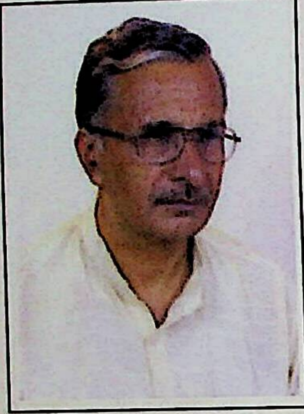
वेदान्त-मीमांसा-सन्देश



डॉ. सोमदेव शास्त्री



डा. सोमदेव शास्त्री

द्वारा

लिखित एवं सम्पादित वैदिक साहित्य

१ वैदिक सन्देश
२ ऋग्वेदादि सन्देश
३ ऋग्वेद सन्देश
४ यजुर्वेद सन्देश
५ सामवेद सन्देश
६ अथर्ववेद सन्देश
७ उपनिषद् सन्देश
८ रामायण सन्देश
९ महाभारत सन्देश
१० गीता सन्देश
११ स्मृति सन्देश
१२ संस्कार सन्देश
१३ सत्यार्थ सन्देश
१४ दर्शनों का तत्वज्ञान
१५ सरल संस्कृत शिक्षक
१६ स्वर सिद्धान्त
१७ पूना प्रवचन सार
१८ मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
१९ पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा
२० याज्ञिक प्रक्रिया और सामाजिक संगठन
२१ श्री राम गाथा
२२ सरल संस्कृत पाठमाला
२३ न्याय-वैशेषिक सन्देश
२४ सांख्य योग सन्देश
२५ वेदान्त-मीमांसा सन्देश
२६ आर्य भजनोपदेशक व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२७ नारी महिमा

(29)

॥ ओ३म् ॥

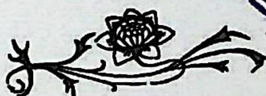
0
3.2

वेदान्त-मीमांसा-सन्देश

● लेखक ●

डा. सोमदेव शास्त्री





● प्रकाशक ●

वैदिक मिशन मुम्बई
३०९ मिल्टन अपार्टमेन्ट,
जुहू कोलीवाड़ा, मुम्बई - ४०० ०४९.

विक्रम संवत् २०६७



प्रथम संस्करण १००० प्रति मूल्य ५०/- रुपये

● पुस्तक प्राप्ति स्थान ●

१. डा. सोमदेव शास्त्री
३०९, मिल्टन अपार्टमेन्ट,
जुहू कोलिवाड़ा, मुम्बई - ४९.
मोबाईल - ०९८६९६६८१३०

२. आर्य समाज
बड़ा बाजार । मुंशी सदरुद्दीन लेन
कोलकाता - ७०० ००७.

प्रथम संस्करण - १००० प्रति
ईसवी सन् २०१०
विक्रम संवत् २०६७
मूल्य - रु. ५०/- (पचास रुपये)

मुद्रक
विकास ग्राफिक्स,
४८१, विनायक वासुदेव चाल,
ना.म.जोशी मार्ग, मुम्बई - ११.



प्राक्कथन

जिन ग्रन्थों के द्वारा संसार की यथार्थता का ज्ञान होता है, ईश्वर-जीव और प्रकृति का विवेचन जिनमें किया गया है उन्हें दर्शन शास्त्र कहते है। दर्शन शास्त्र के दो भेद आस्तिक और नास्तिक दर्शन हैं। न्याय, वैशेषिक सांख्य योग वेदान्त और मीमांसा ये आस्तिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं। इनमें वेदान्त दर्शन का प्रचार-प्रसार बहुत अधिक है। ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन इस शास्त्र में किया गया है। यह इसके प्रथम सूत्र "**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**" से ही ज्ञात होता है। मानव जीवन का लक्ष्य ब्रह्म को जानना, उसका साक्षात्कार करके जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूटना है। इन सब विषयों का वर्णन उपनिषदों में भी विद्यमान है। इसलिये उपनिषदों को भी कुछ विद्वानों के अनुसार वेदान्त कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र से ही स्पष्ट होता है कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनेवाला (जीवात्मा) पृथक् है और ब्रह्म पृथक् है। सूत्रकार की भावना को ध्यान में रखते हुए आचार्य बोधायन - उपवर्षआदि आचार्यों ने त्रैतवाद (ईश्वर-जीव-प्रकृति) विषयक व्याख्या की। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद (केवल मात्र ब्रह्म ही है इस) को प्रतिपादन करने के लिये वेदान्त दर्शन का भाष्य किया, इसका प्रचार प्रसार किया जिससे शंकर और वेदान्त एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये।

मीमांसा दर्शन में कर्म काण्ड (याज्ञिक प्रक्रियाओं) का विवेचन किया गया है। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद (नवीन वेदान्त) की समीक्षा ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में विस्तार से की है। वेदान्त दर्शन पर गहन चिन्तन और लेखन आचार्य उदयवीर जी शास्त्री ने किया तथा मीमांसा पर गम्भीर विवेचन महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने किया। मीमांसा का '**शाबर भाष्य**' प्रसिद्ध है। उसकी व्याख्या करते हुए मीमांसा पर लगाये जाने वाले दोषों (पशुहिंसा - नास्तिकता आदि) को दूर करने का श्लाघनीय कार्य श्री मीमांसकजी ने किया है। वेदान्त और मीमांसा में विद्यमान ज्ञान के भण्डार से हिन्दी का सामान्य ज्ञान रखनेवाला जिज्ञासु लाभान्वित हो सके इसी दृष्टि से इस पुस्तक की रचना की गयी है। इसके प्रकाशन में आर्यप्रवर श्री दीनदयालजी गुप्त मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिम बंगाल ने सहयोग करके मुझे आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त किया इसके लिये मै इनका हृदय से आभारी हूँ। सहृदय विज्ञ पाठकों से निवेदन है कि पुस्तक में विद्यमान न्यूनताओं से अवगत कराने की कृपा करें जिससे अगले संस्करण में उन्हें दूर किया जा सके।

स्थान : मुम्बई
दिनांक : १-७-२०१०

विदुषामनुचर
सोमदेव शास्त्री



विषय सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	वेदान्त परिचय	१
२.	प्रथम अध्याय - वेदान्त दर्शन	१७
३.	द्वितीय अध्याय - वेदान्त दर्शन....	३८
४.	तृतीय अध्याय - वेदान्त दर्शन	५०
५.	चतुर्थ अध्याय - वेदान्त दर्शन	६२
६.	पूर्व मीमांसा (मीमांसा दर्शन) परिचय	७३
७.	प्रथम अध्याय - मीमांसा दर्शन....	८५
८.	द्वितीय एवं तृतीय अध्याय - मीमांसा दर्शन	१०५
९.	चतुर्थ से षष्ठ अध्याय - मीमांसा दर्शन	११६
१०.	सप्तम से द्वादश अध्याय - मीमांसा दर्शन....	१२९

वेदान्त-मीमांसा-सन्देश

दर्शन एवं शास्त्र : दृशिर् प्रेक्षणे धातु से दर्शन शब्द बनता है जिसका तात्पर्य है कि जिस (ग्रन्थ) के द्वारा पदार्थ के तात्विक स्वरूप को जाना जाता है अथवा जिस (ग्रन्थ) में पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विवेचन किया जाता उन्हें "**दर्शन**" कहते हैं[१]। हम क्या हैं कहां से आये हैं, कहां जाना है, संसार में क्यों आये हैं ? हमारा उद्देश्य क्या है। जगत् क्या है, किससे बना है, इसके मूल कारण क्या हैं, इस जगत् की और प्राणियों के शरीर की रचना करनेवाला कौन है ? उसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि विषयों का विवेचन जिन ग्रन्थों में किया गया है उन्हें '**दर्शन**' कहते हैं। शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टौ' धातु से बनता है (शासन्ात् शास्त्रम्) आज्ञा करना या किसी विषय को प्रकट करना या स्पष्ट करना अर्थात् जिन ग्रन्थों में विधि और निषेध कर्मों की आज्ञा देना या विधि या निषेध कर्म अर्थात् कौन से कर्म करने चाहिये और कौन से कर्म नहीं करने चाहिये इन विषयों का विवेचन जिन ग्रन्थों में किया गया है उन्हें '**शास्त्र**' कहते हैं। इसलिये स्मृति ग्रन्थों के लिये भी शास्त्र शब्द का प्रयोग किया जाता हैं जिनमें कर्तव्य कर्मों का विवेचन किया गया है। न्याय-वैशेषिकादि दर्शन ग्रन्थों के लिये भी शास्त्र शब्द का प्रयोग किया जाता है। दर्शन शास्त्र के अध्ययन अध्यापन करनेवाले को दार्शनिक या 'शास्त्री' कहा जाता है।

दर्शन शास्त्र के भेद :- नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन दो भेद हैं।

१. नास्तिक दर्शन : १. चार्वाक दर्शन २. जैन दर्शन ३. बौद्ध दर्शन

२. आस्तिक दर्शन : १. न्याय २. वैशेषिक ३. सांख्य ४. योग ५. वेदान्त ६. मीमांसा

वेदों के प्रमाण को स्वीकार न करनेवाले शास्त्रों को नास्तिक दर्शन तथा वेदों के प्रमाण को स्वीकार करनेवाले शास्त्र को आस्तिक दर्शन कहते हैं यही भेद इन दोनों दर्शन शास्त्रों में हैं।

वेदान्त (शब्द) का तात्पर्य :- वेद के अन्त (अन्तिम सिद्धान्त या लक्ष्य) को वेदान्त कहा जाता है। वेदों के अध्ययन-मनन-श्रवण करने के बाद जो तत्त्व (ब्रह्म) जाना जाता है, उस (ब्रह्म) का विवेचन जिस शास्त्र में किया गया है उसे वेदान्त कहते हैं। वेदों में तृण (घास के तिनके) से लेकर ब्रह्म पर्यन्त समस्त पदार्थों का वर्णन है अर्थात् समस्त ज्ञान विज्ञान वेदों में है[२]। सभी

विषयों और पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त न किया तो उसका ज्ञान पूर्ण नहीं हुआ, अधूरा ही रहा। इसलिये वेदों का अन्त अर्थात् अन्तिम सिद्धान्त या लक्ष्य '**ब्रह्म**' है। ब्रह्म का विवेचन जिस शास्त्र में किया गया है उसे वेदान्त कहते हैं।

ब्रह्मसूत्र :- वेदान्त दर्शन में ब्रह्म का विवेचन सूत्रों के द्वारा किया गया है। सूत्रों के रूप में यह ग्रन्थ है इसे **ब्रह्मसूत्र** भी कहा जाता है। उपनिषदों में ब्रह्म विषयक आध्यात्मिक वर्णन विद्यमान है। मानव जीवन का लक्ष्य ब्रह्म को प्राप्त करना है ब्रह्म का वर्णन होने के कारण यह वेदों का अन्तिम सिद्धान्त है, इसलिये उपनिषदों को भी कहीं कहीं 'वेदान्त' कहा गया है। शरीर में रहनेवाले आत्मा और परमात्मा का वर्णन होने के कारण इसे **शारीरिक सूत्र** भी कहते हैं। इस तरह इसके **चार नाम** है। १. वेदान्त दर्शन २. ब्रह्मसूत्र ३. उत्तर मीमांसा ४. शारीरिक सूत्र।

पूर्वोत्तर मीमांसा एक शास्त्र :- वेदों के गूढ़ रहस्य वेद की शाखाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यक और उपनिषदों के द्वारा स्पष्ट किये गये हैं। इसलिये शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों के प्राचीन भाष्य कहा जाता है। वेद की शाखाओं तथा ब्राह्मण वाक्यों में दृष्टिगोचर होनेवाले विरोध को दूर करके उन वाक्यों को संगति लगाने तथा उनके तात्पर्य को स्पष्ट करने का प्रयास महर्षि जैमिनि ने मीमांसा (**पूर्व मीमांसा**) में सूत्रों द्वारा किया है। इसी प्रकार उपनिषद् वाक्यों की महर्षि बादरायण ने वेदान्त (**उत्तर मीमांसा**) में संगति लगाकर स्पष्ट किया है। इसलिये अध्ययन-अध्यापन की परम्परा में प्रचलित है कि मीमांसा शास्त्र पढ़ने से पहले वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों का तथा वेदान्त पढ़ने से पहले उपनिषदों का पारायण कर लेना चाहिये। जिससे ये दोनों दर्शन सुगमता पूर्वक समझ में आ सके। पूर्व मीमांसा (मीमांसा) में कर्म (धर्म) की मीमांसा विवेचना की गयी है यह इसके प्रथम सूत्र **(अथातो धर्म जिज्ञासा)** से स्पष्ट होता है। तथा वेदान्त (उत्तर मीमांसा) में ज्ञान (ब्रह्म) की मीमांसा की गयी है वह इसके प्रथम सूत्र **(अथातो ब्रह्म जिज्ञासा)** सूत्र से स्पष्ट होता है। ज्ञान के विना कर्म हो नहीं सकता है तथा विना कर्म के ज्ञान अधूरा है। ये दोनों (ज्ञान और कर्म) परस्पर एक दूसरे के पूरक या सहयोगी है। इस लिये ज्ञान और कर्म की मीमांसा (विवेचना) करनेवाले दोनों शास्त्र प्राचीन काल में एक ही शास्त्र के नाम से जाने जाते थे। ऐसा प्राचीन ग्रन्थों में लिखा हुआ है। मीमांसा के लिये '**पूर्व मीमांसा**'

तथा वेदान्त के लिये '**उत्तर मीमांसा**' शब्द का प्रयोग होता रहा है। दोनों के लिये एक शब्द "**पूर्वोत्तर मीमांसा**" का प्रयोग किया गया है[3]।

प्रपंच हृदय में लिखा है कि मीमांसा के **बीस अध्याय** हैं। जैमिनि कृत **१६ अध्याय (पूर्वमीमांसा)** में धर्म (कर्म) का विवेचन तथा अन्तिम **चार अध्याय (उत्तर मीमांसा-वेदान्त)** में वेदव्यास ने ब्रह्म का विवेचन किया है[4]। इसलिये इसको **वेदान्त दर्शन-ब्रह्मसूत्र-शारीरिक सूत्र** तथा **उत्तर मीमांसा** कहते हैं।

वेदान्त शास्त्र परिचय :- वेदान्त दर्शन जिसे बादरायण सूत्र या उत्तर मीमांसा शास्त्र भी कहा जाता है। इसमें चार अध्याय तथा ५५५ सूत्र हैं। प्रत्येक अध्याय को चार भागों में विभक्त किया हुआ हैं। प्रत्येक अध्याय को चार भागों में विभक्त किया है जिन्हें 'पाद' कहते हैं अर्थात् प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इस तरह इस शास्त्र में चार अध्याय १६ पाद तथा ५५५ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में १३४ द्वितीय अध्याय में १५७ तृतीय अध्याय में १८६ तथा चतुर्थ अध्याय में ७८ सूत्र हैं। वर्तमान प्रकाशित संस्करणों में सूत्र संख्याओं तथा सूत्रपाठ में भिन्नता मिलती है। इस पुस्तक में सूत्रपाठ आचार्य शंकर द्वारा लिखित पाठ के अनुसार उल्लेख किया गया है। आचार्य शंकर ने अपनी मान्यता (नवीन वेदान्त-अद्वैतवाद) की पुष्टि करने के लिये 'अधिकरण' की कल्पना करके 'अधिकरण देकर अपनी विचारधारा लिखी और उसकी पुष्टि के लिये अधोलिखित सूत्र हैं तत्पश्चात् सूत्र देकर उनकी व्याख्या लिखी है। जबकि सूत्रकार ने मात्र केवल सूत्र लिखे हैं, अधिकरण का उल्लेख सूत्रकार ने नहीं किया है। शंकराचार्य के अनुवर्ती अन्य आचार्यों ने भी अधिकरणों का प्रयोग अपने भाष्य में किया है।

वेदान्त दर्शन के **प्रथम अध्याय** में ब्रह्म की जिज्ञासा, ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और पालन कर्ता, ब्रह्म के लक्षणादि का वर्णन किया गया है। **द्वितीय अध्याय** में ब्रह्म के स्वरूपादि के विषय विविध शंकाएं तथा उनका समाधान तथा जीवात्मा की गति, इन्द्रियों की रचनादि का वर्णन **तृतीय अध्याय** में कर्मों के अनुसार जीवात्मा को फल परमात्मा के द्वारा देना तथा उपासना का वर्णन है। **चतुर्थ अध्याय** में जीवात्मा के आवागमन (जन्म और मृत्यु को प्राप्त करने, मोक्ष तथा ब्रह्मज्ञान के विविध उपायों का वर्णन है।

वेदान्त का रचयिता :- वेदान्त दर्शन की रचना महर्षि वेदव्यास ने की, इन्हीं का दूसरा नाम कृष्णद्वैपायन था। महाभारत के युद्ध से पहले इनका जन्म हो चुका था, इनका रंग (वर्ण) काला था इसलिये इन्हे कृष्ण कहा गया तथा इनका

जन्म स्थान द्वीप अयन रहा इसलिये ये कृष्ण द्वैपायन के नाम से जाने जाते थे। चारों वेदों पर पाण्डित्यपूर्ण अधिकार तथा अनेक शिष्यों को वेदों का अध्ययन कराया था अतः वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए। वेदव्यास और कृष्ण द्वैपायन के अतिरिक्त इनका बादरायण नाम भी था यह नाम कार्य क्षेत्र की दृष्टि से है। बदरी प्रदेश जो बदरीनाथ या बदरिकाश्रम के नाम से प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। उस बदरी प्रदेश में रहकर व्यास ने इन सूत्रों की रचना या सूत्रों का अध्यापन किया था। इसलिये शास्त्र रचयिता का नाम बादरायण तथा सूत्रों का नाम बादरायण सूत्र प्रचलित हो गया। वेदान्त दर्शन के अनेक स्थानों पर बादरायण के नाम का उल्लेख मिलता है"। जिससे स्पष्ट होता है कि इन सूत्रों का रचयिता बादरायण है। इस तरह ज्ञात होता है कि वेदान्त के रचयिता महर्षि **वेदव्यास** है जिनको **कृष्णद्वैपायन** तथा **बादरायण** भी कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन का रचना काल :- वेदान्त दर्शन के रचयिता महर्षि वेदव्यास का जो काल है वही काल वेदान्त दर्शन का है। महाभारत युद्ध के समय महर्षि वेदव्यास थे, महाभारत युद्ध को हुए लगभग पांच हजार वर्ष हो गये अतः इस शास्त्र का रचनाकाल भी लगभग पांच हजार वर्ष है। आचार्य शंकर ने अपने वेदान्त दर्शन के भाष्य में जैन और बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया है इससे कुछ लोगों की मान्यता है कि वेदान्त दर्शन का समय जैन और बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पश्चात् (अर्थात् दो हजार वर्ष पूर्व) का है किन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं है। क्योंकि शंकराचार्य ने अपने प्रबल तर्कों के द्वारा अवैदिक जैन बौद्ध मान्यताओं का खण्डन किया और उसके लिये अपने ग्रन्थों (गीता-उपनिषद् और वेदान्त भाष्य) में उन ग्रन्थों के प्रमाणों को उद्धृत किया या अपनी विचारधारा के अनुसार उन ग्रन्थों की व्याख्या की जबकि मूलग्रन्थ की यह भावना नं थी। वेदान्त दर्शन के मूल सूत्रों में कहीं पर भी जैन और बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा या खण्डन नहीं है।

आचार्य शंकर ने अपने शंकरभाष्य में वेदान्त दर्शन के दों सूत्रों (शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (१-३-२८) तथा एव आत्मनः शरीरे भावात्। (३-३-५३) की व्याख्या करते हुए **आचार्य उपवर्ष** का उल्लेख किया है।

आचार्य उपवर्ष महर्षि पाणिनि के गुरु 'वर्ष' के भाई थे। उपवर्ष ने पूर्वमीमांसा (मीमांसा) और वेदान्त सूत्रों पर व्याख्या लिखी थी। उपवर्ष का

काल आधुनिक विद्वानों ने भी पाणिनि के समकालीन माना है तथा पाणिनि का काल महाभारत युद्ध के तीन सौ वर्ष के बाद का है ऐसा अनेक तर्क और प्रमाणों के द्वारा महामहोपाध्याय **पं. युधिष्ठिरजी मीमांसक** ने सिद्ध किया है। आचार्य शंकर के द्वारा उपवर्ष का उल्लेख करने से भी स्पष्ट होता है कि वेदान्त सूत्रों का व्याख्याकार उपवर्ष महाभारत के तीन सौ वर्ष बाद हुए तथा उन्होने ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार बोधायन के भाष्य पर बोधायन वृत्ति लिखी ऐसा प्रपंच हृदय में स्पष्ट लिखा है[६]। इससे स्पष्ट होता है कि उपवर्ष से पहले बोधायन हुए जिन्होंने वेदान्त का भाष्य किया और बोधायन से पहले वेदान्त शास्त्र की रचना हुई। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि वेदान्त दर्शन का रचना काल पांच हजार वर्ष पूर्व का है।

वेदान्त के भाष्यकार :- वेदान्त दर्शन पर अनेक विद्वानों ने भाष्य किया है जिनमें से कई भाष्यकारों के भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उनके भाष्य या व्याख्या का उल्लेख अर्वाचीन भाष्यकारों ने किया है जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने वेदान्त सूत्रों की व्याख्या की थी। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य उदयवीरजी शास्त्री ने '**वेदान्त दर्शन का इतिहास**' नामक ग्रन्थ में किया है। कतिपय भाष्यकारों का विवरण अधोलिखित है।

१. आचार्य बोधायन :- आचार्य बोधायन ने ब्रह्मसूत्रों पर विस्तृत व्याख्या लिखी थी जो '**कृतकोटि**' नाम से जानी जाती थी ऐसा रामानुजाचार्य ने अपने वेदान्त दर्शन के भाष्य में लिखा है[७]। आचार्य बोधायन ने वेदान्त की ही नहीं अपितु मीमांसा की भी व्याख्या लिखी थी ऐसा प्रपंच हृदय नामक ग्रन्थ में उल्लेख है[८]। आचार्य बोधायन ने गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्रादि की भी रचना की थी इनके नाम से सूत्र ग्रन्थ मिलते हैं। बोधायन की विस्तृत व्याख्या का संक्षेप 'उपवर्ष' ने किया ऐसा प्रपंच हृदय में लिखा है, उपवर्ष पाणिनि के गुरु 'वर्ष' का भाई था अतः बोधायन का समय बहुत प्राचीन है, वह रामानुज तथा प्रपंचहृदय के लेखक तथा उपवर्ष से भी पहले हुआ है।

२. आचार्य उपवर्ष :- आचार्य उपवर्ष ने बोधायन के ब्रह्मसूत्र की विस्तृत व्याख्या 'कृतकोटि' को संक्षेप करके व्याख्या की है ऐसा 'प्रपंचहृदय' नामक ग्रन्थ से स्पष्ट होता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उपवर्ष का समय बोधायन के बाद का है। यह पाणिनि के गुरु वर्ष के भाई थे अतः इनका समय वर्ष के समकालीन अर्थात् महाभारत युद्ध के लगभग तीन सौ वर्ष के बाद का है। बुद्ध

के प्रादुर्भाव से पहले उपवर्ष हुए हैं। मीमांसा दर्शन के शाबरभाष्य (१-१-५) में भी उपवर्ष का उल्लेख है ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने उपवर्ष के नाम का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि शबर स्वामी और आचार्य शंकर-रामानुज आदि से प्राचीन समय उपवर्ष का है। बोधायन और उपवर्ष के अतिरिक्त अन्य आचार्य भी हुए हैं जिन्होंने वेदान्त दर्शन का भाष्य किया है। जो शंकराचार्य से पहले हुए हैं जिनके नाम वेदान्त विषयक साहित्य में मिलते हैं, जो इस प्रकार है-

१. आचार्य गुहदेव	२. आचार्य भारुचि
३. आचार्य ब्रह्मानन्दी	४. आचार्य भर्तृमित्र
५. आचार्य भर्तृप्रपञ्च	६. आचार्य द्रमिल
७. आचार्य ब्रह्मदत्त	८. आचार्य सुन्दर पाण्ड्य
९. आचार्य भर्तृहरि	१०. आचार्य कपर्दी

आदि अनेक आचार्यों ने अपनी वाणी और लेखनी के द्वारा वेदान्त सूत्रों की व्याख्या करके वेदान्त दर्शन के ब्रह्मविषयक ज्ञान को जन जन तक पहुंचाने का श्लाघनीय कार्य किया है। आचार्यों इसी परम्परा में आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने वेदान्त की यशस्विता को विश्व विख्यात कर दिया तथा उसे नई विचारधारा की ओर मोड़ दिया जिससे **वेदान्त** और **शंकर** दोनों एक दूसरे के **पर्यायवाचक** बन गये। वेदान्त को बोलते ही सहसा शंकर का स्मरण हो आता है और शंकर को बोलते ही वेदान्त की ओर सहसा ध्यान आकृष्ट हो जाता है।

२. आचार्य शंकर :- वेदान्त दर्शन के भाष्यकारों में आचार्य शंकर का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। इन्होंने अपने विचारों के प्रचार प्रसार के लिए देश के चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना की जो शंकराचार्य मठ के नाम से जाने जाते हैं। इन मठों पर आसीन होने वाले विद्वान् को भी शंकराचार्य के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है।

शंकराचार्य का जन्म पाश्चात्त्य विद्वान् और उनका अनुसरण करनेवाले भारतीय विद्वान्-ईसा की आठवी शताब्दी मानते हैं किन्तु शंकराचार्य द्वारा स्थापित धार्मिक पीठ अर्थात् मठों (कांची-कामकोटि पीठ, ज्योतिर्मठ, शारद्रापीठ, श्रृंगेरी मठ) के आचार्यों की परम्परा, बौद्ध दार्शनिक विद्वानों एवं भारतीय इतिहास की परम्परा तथा शंकराचार्य के जीवन चरित्र विषयक साहित्य (शंकरदिग्विजय)

आदि से स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य का जन्म ईसा से ५०९ वर्ष पूर्व हुआ था। इस विषय में आचार्य उदयवीरजी शास्त्री ने अपने ग्रन्थ **'वेदान्त दर्शन का इतिहास'** में विस्तार से प्रकाश डाला है। आचार्य शंकर लगभग ३२ वर्ष जीवित रहे। सोलह वर्ष की आयु में आपने वेदान्त दर्शन का भाष्य किया जो **'शांकरभाष्य'** के नाम से प्रसिद्ध है। आपके भाष्य की शैली हृदय ग्राही है। आपकी भाषा अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने में इतनी सशक्त एवं समर्थ है कि जिसे पढ़कर विद्वत् समुदाय आपके प्रति नतमस्तक हो जाता है। आपने वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त गीता और उपनिषदों का भी भाष्य किया है। आपके तीनो ग्रन्थों (वेदान्त-उपनिषद्-गीता) पर किये हुए भाष्य **'प्रस्थानत्रयी'** के नाम से प्रसिद्ध हैं। बत्तीस वर्ष के स्वल्प जीवन काल में आपने शास्त्रों का अध्ययन करके उनकी व्याख्या अपने सिद्धान्त (अद्वैतवाद) के प्रचार प्रसार के लिये यात्रा करना, विरोधी मतवालों से शास्त्रार्थ करना, धर्म का प्रचार-प्रसार सुचारू रूप से चलता रहे, इसके लिये चारों दिशाओं में चार धार्मिक पीठ (मठों) की स्थापना करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनके **गुरु** का नाम **गोविन्द पाद** और **उनके गुरु** का नाम **आचार्य गौड़पाद** था। गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर माण्डूक्योपनिषद् कारिका नामक १२ श्लोकों की लघु पुस्तिका लिखी है -

आचार्य शंकर का मत :- वेदान्त दर्शन का पठन पाठन करने वालों में आचार्य शंकर का मत **'अद्वैतवाद'** के नाम से जाना जाता है। चार्वाक-जैन और बौद्ध दर्शन के विद्वानों द्वारा जब यह प्रचारित किया जा रहा था कि ब्रह्म (परमात्मा) नाम की कोई सत्ता नहीं है, सब कुछ जड़ जगत् यह दीखनेवाला संसार या शरीर ही है। बौद्धों के शून्यवाद तथा जैनियों के तीर्थंकरवाद ने तथा चार्वाक या जड़वाद ने ब्रह्म (परमात्मा) की सत्ता को सर्वथा नकार दिया था, जब ब्रह्म नहीं तो उसका ज्ञान वेद भी नहीं और वेद नही तो वेदोपदिष्ट वर्णाश्रम धर्म, पंचमहायज्ञ, १६ संस्कारादि कुछ भी नहीं, सारा भारतीय समाज वैदिक व्यवस्थाओं से छिन्न भिन्न हो रहा था।

स्वप्न के समान जगत् :- ऐसे विकराल समय में आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने उद्घोष किया कि सब कछ ब्रह्म ही ब्रह्म है[९], ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह दीखनेवाला संसार और चेतन प्राणियों का शरीर कुछ नहीं है यह सब झूठा और मिथ्या हैं[१०]। यदि यह जड़ जगत् और शरीर कुछ नहीं है तो यह जो स्पष्ट दीख रहा है, दीखनेवाले पदार्थ की सत्ता को कैसे मना कर

सकते हैं जो प्रत्यक्ष है। ऐसा जब शंकराचार्य को पूछा जाता है तब उनका उत्तर था कि जैसे स्वप्न में व्यक्ति किसी को देखता है, या लड्डु खाता है, या किसी से लड़ाई झगड़ा करता है किन्तु आंख खुलने (जागने) पर न तो कोई व्यक्ति है न कोई लड्डु है (जिसे वह खा रहा हो) और न कोई व्यक्ति खड़ा हुआ है जिससे वह स्वप्न में लड़ाई लड़ रहा था। जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तु यथार्थ में नहीं होती है वैसे ही जगत् में प्रत्यक्ष दीखनेवाले पदार्थ भी नहीं है वे सब मिथ्या हैं, झूठे हैं[११]। यह संसार मिथ्या और झूंठा है यह तत्त्वज्ञान आंख खुलने (तत्वज्ञान होने) पर होता है, यह संसार स्वप्न के समान है।

परिणाम और विवर्त :- यदि केवल एक ही ब्रह्म है तो हम सब (जीवात्मा) पृथक् पृथक् अपना अस्तित्व क्यों अनुभव करते हैं, इसका क्या कारण है। आचार्य शंकर उत्तर देते हैं कि अविद्या के कारण यह पृथक् पृथक् बोध होता है। जब तत्त्वज्ञान हो जायगा तब यह अनुभूति होगी कि मै ब्रह्म हूं[१२]। यदि ब्रह्म ही एक चेतन तत्त्व है तो उससे जड़ जगत् कैसे बन गया। इसका उत्तर दिया जाता है कि जड़ जगत् चेतन ब्रह्म का **परिणाम नहीं** है जैसे दूध का परिणाम दही होता है। दही में दूध के गुण रहते हैं किन्तु जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं अपितु विवर्त है। **विवर्त** का अर्थ समझाते हुए कहते हैं जैसे अन्धेरे में टेड़ी-मेढ़ी पड़ी हुई रस्सी सांप नहीं होती किन्तु अन्धेरे के कारण व्यक्ति उसे सांप समझकर डरता है। अन्धेरे में रस्सी को सांप समझना **'विवर्त'** है, जैसे रस्सी का परिणाम सांप नहीं है वैसे ही जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं है अपितु विवर्त है, यथार्थ में ब्रह्म से जगत् नहीं बनता है। इसलिये ब्रह्म के गुण जड़ जगत् में नहीं है। इस प्रकार चार्वाक-जैन बौद्धादि मतों को पराजित करने के लिये आचार्य शंकर ने केवल मात्र (अद्वैत) ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये विविध शब्दों की रचना की और अद्वैतवाद को सिद्ध करने का यत्न किया[८] जब कि यथार्थ में ऐसा नहीं है।

चेतन से जड़ और विवर्त :- अद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये आचार्य शंकर ने अनेक स्वकल्पित शब्दों का आश्रय लिया। चार्वाक दर्शन ने जड़ से चेतन की उत्पत्ति सिद्ध करने का यत्न किया कि पृथ्वी-जल-अग्नि वायु आदि जड़ पदार्थों के परमाणुओं के संयोग से प्राणियों के शरीर में चेतनता आ जाती है। जीवन प्रकट हो जाता है, चेतन तत्व (आत्मा) शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परिस्थितिवश चेतनता आ जाती है और परिस्थितिवश चेतनता समाप्त हो जाती है इसे ही जन्म और मृत्यु कहा जाता है। ठीक इसके विपरीत आचार्य शंकर ने

सिद्ध किया है कि चेतन ब्रह्म से ही जड़ जगत् बनता है। यदि ब्रह्म से जड़ जगत् बना है तो ब्रह्म के गुण (आनन्द, चेतन, सर्वज्ञादि) जड़ जगत् में क्यों नहीं दीखते हैं, जब यह आचार्य शंकर से पूछा जाता है तो उत्तर दिया जाता है कि जड़ जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं अपितु विवर्त है। इस **विवर्त** शब्द की परिकल्पना से ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध की जबकि यथार्थ में विवर्त शब्द वेदान्त सूत्र में कहीं पर भी इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

एक से अनेक :- अद्वैतवाद में एक मात्र केवल ब्रह्म ही है-तो हम सब (जीव) अनेक क्यों दीखते हैं तो इसका उत्तर दिया जाता है कि एक ब्रह्म होने पर भी पृथक् पृथक् जीव माया के कारण दीखते हैं। माया क्या है ? **गुण** है या **द्रव्य** है, यदि **गुण** है तो माया ब्रह्म का ही गुण है क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यदि माया को ब्रह्म का गुण माना जाय तो यही कहा जायेगा कि सूर्य में अन्धेरा है (जो कि कभी हो नहीं सकता) क्योंकि माया के कारण सर्वज्ञ और आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपने आपको अज्ञानी और दुःखी जीवात्मा मान बैठता है। यदि माया को **द्रव्य** माने तो तत्त्व एक नहीं दो (ब्रह्म और माया) हो जायेंगे। तब अद्वैतवाद (**एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति**) कैसे कहेंगे ? इस उलझन से बचने के लिये कहा जाता है कि माया **अनिर्वचनीय** है अर्थात् इसकी हम कुछ भी व्याख्या नहीं कर सकते हैं, कितना आश्चर्य है कि जिस माया का आश्रय लेकर अद्वैत को सिद्ध किया जाता है फिर भी माया के विषय में कहते हैं इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है।

माया का कार्य :- माया का क्या कार्य है। इसको समझाते हुए कहा जाता है कि माया के दो कार्य है एक **आवरण** और दूसरा **विक्षेप**, जैसे जादूगर जादू दीखाता है कि वह मिट्टी से पैसा बना देता है और दर्शक उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं मिट्टी को छिपाना यह **आवरण** है और मिट्टी के स्थान पर पैसा दीखना यह **विक्षेप** है। इसी प्रकार माया के आवरण गुण के कारण 'ब्रह्म' का स्वरूप छिप जाता है तथा विक्षेप गुण के कारण ब्रह्म के स्थान पर जड़ जगत् दीखने लगता है। इस लौकिक दृष्टान्त में जादूगर अलग हैं और जादू देखनेवाले साधारण व्यक्ति अलग हैं जो जादू नहीं जानते हैं किन्तु ''अद्वैतवाद'' को सिद्ध करने में तो **जादूगर** भी वही **ब्रह्म** है और जादू देखकर **भ्रमित होनेवाला** भी वही '**ब्रह्म**', इस प्रकार विचित्र उदाहरणों के द्वारा '**अद्वैतवाद**' का भवन खड़ा किया गया।

अभिन्न निमित्तोपादान कारण :- अद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये मकड़ी का उदाहरण दिया जाता है कि जैसे मकड़ी के अन्दर से जाला निकलता है और मकड़ी उस जाले में फंस जाती है ठीक इसी प्रकार ब्रह्म से ही जगत् बना और उसी में फंसा हुआ है अर्थात् ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है जिसे **'अभिन्न निमित्तोपादान कारण'** कहा जाता है। किन्तु इस उदाहरण से भी अद्वैत सिद्ध नहीं होता है क्योंकि मकड़ी के शरीर में भी दो तत्त्व पृथक् पृथक् हैं। एक मकड़ी के शरीर में रहनेवाला जीवात्मा तथा एक मकड़ी का शरीर, जीवात्मा जाला बनानेवाला (अर्थात् निमित्त कारण) है और मकड़ी का शरीर जाले का उपादान कारण है। यदि केवल मकड़ी का शरीर हो और आत्मा न हो तब जाला नहीं बन सकता तथा केवल आत्मा हो और मकड़ी का शरीर न हो तब भी जाला नहीं बन सकता है। जगत् बनने के लिये दोनों का अर्थात् निमित्त कारण ब्रह्म तथा उपादान कारण प्रकृति का होना आवश्यक है। इस तरह मकड़ी के उदाहरण से भी अद्वैत सिद्ध नहीं होता है।

तीन सत्ता :- इसी प्रकार अद्वैतवाद (नवीन वेदान्त) के सिद्धान्त के द्वारा **पारमार्थिक** सत्ता (ब्रह्म), **प्रातिभासिक** सत्ता (रस्सी को सांप समझना) तथा व्यावहारिक सत्ता (लोक व्यवहार) के द्वारा भी जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करने का यत्न किया जाता है। किन्तु यह उदाहरण भी अद्वैतवाद को सिद्ध नहीं कर पाता है क्योंकि यदि कहीं पर भी किसी ने यथार्थ में सांप नही देखा तो रस्सी में सांप का भ्रम कभी नहीं हो सकता है। रस्सी में सांप का भ्रम होना ही प्रमाणित करता है कि, यथार्थ में जैसे सांप की सत्ता है वैसे ही यथार्थ में जगत् की सत्ता भी है जगत् मिथ्या-झूठा या स्वप्नवत् नहीं है।

जो पदार्थ आदि (शुरु) में नहीं है और अन्त (प्रलय) में नहीं है वह मध्य में भी नहीं होता है। (आद्यावन्ते च यन्नास्ति मध्यस्थेऽपि तथा न) जगत् बनने से पहले नहीं था, प्रलय में भी नहीं रहेगा, इसलिये वर्तमान में भी नहीं है (अर्थात् मिथ्या है)। इस युक्ति के द्वारा भी अद्वैत को सिद्ध करने का यत्न किया जाता है किन्तु यह भी एक कल्पना मात्र है यथार्थ नहीं है जैसे कोई सभा में भाषण देता हुआ कहे कि मैं भाषण देने से पहले नहीं था, भाषण देने के बाद भी नहीं रहूँगा अर्थात् चला जाऊंगा। इसलिये भाषण देते समय भी मैं नहीं हूँ तो कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मानेगा क्योंकि मनुष्य का सारा व्यवहार अपने अस्तित्व (यथार्थ) को मानकर ही चल रहा है इसलिये जगत् को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

आचार्य रामानुज :- आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों का भाष्य किया जो **'श्रीभाष्य'** के नाम से जाना जाता है। इनका समय आधुनिक विद्वानों के अनुसार (सन् १०३७ से ११३७) ईसा की १२ वी शताब्दी माना जाता है। इन्होंने 'श्रीभाष्य' के अतिरिक्त वेदान्त संग्रह, वेदान्त सार, वेदान्त दीप आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं। इनकी मान्यता शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न रही है जो **विशिष्टाद्वैतवाद** के नाम से जानी जाती है अर्थात् प्रकृति और जीव ईश्वर के ही अंश है। जीव-चित् है और प्रकृति अचित् है। परमात्मा चित् और अचित् से बृहत् (बड़ा) होने के कारण ही उसे ब्रह्म कहते हैं। चित् अचित् विशिष्ट होने के कारण **'विशिष्टाद्वैतवाद'** के नाम से इनकी विचारधारा जानी जाती है। प्रकृति और जीव ईश्वर के ही अंश होने से उससे पृथक् नहीं है किन्तु इन दोनों अंशों से विशेष (विशिष्ट) होने के कारण विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। चित् (जीव) अचित् (प्रकृति) ये दोनों ही ब्रह्म के गुण हैं। ब्रह्म से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं इसीलिये इसे 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहा जाता है। इन्होंने आचार्य शंकर के अद्वैतवाद का अपने श्रीभाष्य में खण्डन किया है।

आनन्दतीर्थ अथवा मध्वाचार्य :- आनन्दतीर्थ का प्रसिद्ध नाम आचार्य मध्व है। इनका जन्म दक्षिण भारत के 'उडुपी' नामक स्थान में सन् ११९९ में हुआ तथा देहान्त सन् १३०३ में हुआ। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य करके अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए अपने भाष्य में **'द्वैतवाद'** के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ब्रह्मसूत्रों के अतिरिक्त गीता तथा छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन-कठादि उपनिषदों का भी भाष्य किया है। ब्रह्म से जीव भिन्न है मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से पृथक् रहता है। **जीव** और **ब्रह्म** दोनों की **सत्ता** है इसलिये इसके सिद्धान्त को **द्वैतवाद** के नाम से जाना जाता है।

निम्बार्काचार्य :- इनके काल के विषय में निश्चितता नहीं है। इनके विषय में लोकोक्ति प्रचलित है कि इनका वास्तविक नाम नियमानन्द था। इन्होंने अपने शिष्यों को रात्री में नीम (नीम्ब) के पेड़ पर चढ़कर सूर्य (अर्क) के दर्शन कराये थे इसलिये इनका नाम **निम्बार्क** प्रसिद्ध हो गया। इन्होंने वेदान्त पर भाष्य किया है जो **''वेदान्त पारिजात सौरभ''** के नाम से जाना जाता है। इन्होंने मध्वाचार्य के द्वैतवाद का खण्डन करके **'भेदाभेद'** विचारधारा को प्रस्तुत किया। अर्थात् जीव चिद्रूप से ब्रह्म से अभिन्न तथा चिद् अंश के रूप में जीव ब्रह्म से भिन्न है इसलिये इसे **'भेदाभेद'** कहा जाता है।

वल्लभाचार्य :- वल्लभाचार्य का जन्म काल ईसा की १५ वी शताब्दी (सन् १४७९) में माना जाता है। इन्होंने वेदान्त दर्शन पर भाष्य किया जो **अणुभाष्य** के नाम से प्रसिद्ध है। इनका सिद्धान्त **'शुद्धाद्वैतवाद'** के नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें इन्होंने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म माया से सदा अलिप्त रहता है, अद्वैततत्त्व है इसलिये इनके सिद्धान्त का नाम **'शुद्धाद्वैतवाद'** पड़ा। इन्होंने वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त पूर्व मीमांसा तथा भागवत पर भी टीका लिखी है। वल्लभाचार्य के मत को **'पुष्टिमार्ग'** के नाम से जाना जाता है।

इन आचार्यों अतिरिक्त आचार्य **भास्कर** ने (सन् १००० ई) भेदाभेद परक भास्कर भाष्य, **श्रीकण्ठ** (सन् १२७०) ने 'शैवभाष्य' **श्रीपति** (सन् १४००) ने 'श्रीकरभाष्य' तथा **विज्ञान भिक्षु** (सन् १६००) ने 'विज्ञानामृतभाष्य' तथा आचार्य **बलदेव** (सन् १७२५) ने 'गोविन्दभाष्य' नाम से वेदान्त दर्शन के भाष्य किये है।

वेदान्त विषयक साहित्य :- 'वेदान्तकल्पतरु' तेरहवी शताब्दी में श्री अमलानन्द ने लिखा। अठारवी शताब्दी में श्री वैद्यनाथ पायगुंडे ने **'वेदान्तकल्पतरु मंजरी'** लिखी। श्री आचार्य निम्बार्काचार्य के शिष्य श्री निवासाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या **'वेदान्त कौस्तुभ'** नाम से लिखी। **'वेदान्तदीप'** नाम से ब्रह्मसूत्रों की विस्तृत व्याख्या आचार्य रामानुज ने लिखी। **'वेदान्त परिभाषा'** में नवीन वेदान्तविषयक मान्यताओं का विवेचन किया गया है इसके लेखक श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र है। **'वेदान्तपरिजात सौरभ'** श्री निम्बार्काचार्य की वेदान्त सूत्रों की स्वल्प व्याख्या है। इसमें इन्होंने अपने मत (द्वैताद्वैत) का प्रतिपादन किया है तथा अन्य के मत का खण्डन नहीं किया है। **'वेदान्तरत्न मंजुषा'** इसमें आचार्य निम्बार्क रचित दशश्लोकी नामक ग्रन्थ की व्याख्या की गयी है। इसके रचयिता श्री पुरुषोत्तम है। वेदान्त विद्वद्गोष्ठी 'नवीन वेदान्त (अद्वैतवाद) विषयक ग्यारह विद्वानों के लेख हैं जिसके सम्पादक सच्चिदानन्द सरस्वती है ये निबन्ध सन् १९६२ में होल्डे नरसिपुर (कर्नाटक) से प्रकाशित हुए हैं। **'वेदान्त शतकम्', 'वेदान्त सार', 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' 'वेदान्त-सिद्धान्तसूक्ति मंजरी', वेदान्त संग्रह** आदि अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ नवीन वेदान्त विषयक प्रकाशित हुए है।

आर्यविद्वान् :- ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में वेदान्त दर्शन के **बोधायन भाष्य** को पढ़ने का उल्लेख किया है। आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य

में वेदान्तदर्शन के भाष्यकार बोधायन का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि बोधायन का वेदान्त दर्शन पर भाष्य रहा है जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

ऋषि दयानन्द ने किसी भी दर्शन का भाष्य नहीं किया है किन्तु अपने ग्रन्थों में विविध प्रसंगों में अन्य शास्त्रों के सूत्रों का भी उल्लेख किया है। अद्वैतवाद की समीक्षा सत्यार्थप्रकाश के सप्तम-नवम-एकादशादि समुल्लासों में करते हुए तत्सम्बन्धी सूत्रों की स्पष्ट व्याख्या की है। ऋषि दयानन्द का अनुसरण करनेवाले आर्यजगत् के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं. आर्य मुनिजी ने वेदान्त दर्शन का विस्तृत भाष्य किया। अपने भाष्य में ब्रह्मसूत्रों के तात्पर्य के विपरीत की गयी साम्प्रदायिक व्याख्याओं की समीक्षा भी की है। इस भाष्य का प्रकाशन सन् १९०३ में लाहौर से हुआ था। इसका दूसरा संस्करण हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर (हरि.) से हुआ। इसका अंग्रेजी अनुवाद रांची निवासी श्रीबालकृष्णजी सहाय ने किया। पं. मणिशंकरजी ने गुजराती भाषा में अनुवाद किया। पं. राजारामजी शास्त्री, पं. तुलसीराम स्वामी (मेरठ) ने इसका भाष्य किया। स्वामी ब्रह्ममुनि ने संस्कृत में भाष्य किया। पं. गोपदेवजी ने 'तेलगु भाषा' में इसकी व्याख्या लिखी। दर्शन शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन और आलोडन करनेवाले आचार्य उदयवीरजी शास्त्री ने वेदान्त दर्शन का विद्वत्तापूर्ण भाष्य किया जो **'विद्योदय भाष्य'** के नाम से जाना जाता है। आपने अपने भाष्य में वेद एवं वेदान्त विरोधी व्याख्याओं की तर्क एवं प्रमाण सहित समीक्षा करके ब्रह्मसूत्रों की यथार्थता को स्पष्ट करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। वेदान्त दर्शन और आचार्य शंकर की प्राचीनता को प्रमाणित करने के लिये **'वेदान्त दर्शन का इतिहास'** नामक ग्रन्थ लिखा। स्वामी जगदीश्वरानन्दजी ने ब्रह्मसूत्रों का सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद किया। वेदान्त सूत्रों के आधार पर ही स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने **अनादि तत्त्व मीमांसा** तथा **तत्त्वमसि** आदि पुस्तकें लिखकर वेदान्तदर्शन की मान्यताओं के प्रचार प्रसार में योगदान दिया है।

ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य :- ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करते हुए व्याख्याकारों ने अपने सम्प्रदाय के मन्तव्य के अनुसार सूत्रों की व्याख्या की किसी ने **अद्वैत**, तो किसी ने **विशिष्टाद्वैत** तो किसी ने **द्वैताद्वैतवाद** को सिद्ध करने का यत्न किया। वेदान्तशास्त्र के रचयिता का क्या तात्पर्य रहा है इसको विभिन्न वादों में न ले जाकर सूत्र के शब्दार्थ से ही जानने का प्रयत्न किया जाय तो शास्त्र रचयिता की मान्यताओं को समझने में सफल हो सकते हैं। वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र द्वारा

स्पष्ट किया गया है कि अब हम ब्रह्म की जिज्ञासा की इच्छा करते हैं[१३]। इस प्रथम सूत्र से ही स्पष्ट होता है कि ब्रह्म पृथक् है और इसको जानने की इच्छा करनेवाला जिज्ञासु (जीवात्मा) पृथक् है। व्यक्ति स्वयं अपने कन्धों पर नहीं चढ़ता है ठीक इसी प्रकार ब्रह्म ही ब्रह्म को जानने की इच्छा नहीं करता है अर्थात् ब्रह्म और जीव पृथक् पृथक् हैं।

ब्रह्म और जीव में भिन्नता :- ब्रह्म (परमात्मा) आनन्द स्वरूप है इसका वेदान्त दर्शन प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र १२ से १९ तक इन आठ सूत्रों में विवेचन किया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में जीवात्मा के अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांच कोशों का वर्णन किया है तो किसी को यह सन्देह न हो जाय कि जैसे परमात्मा आनन्द स्वरूप है वैसे ही जीवात्मा भी ब्रह्म के समान आनन्द स्वरूप है अर्थात् दोनों (जीव और ब्रह्म) एक ही है पृथक् पृथक् नहीं है। इस सन्देह को दूर करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि आनन्द (मय) स्वरूप ब्रह्म से जीवात्मा पृथक् है-भिन्न है[१४]। क्योंकि दोनों में भेद (भिन्नता) है यह अगले सूत्र में सूत्रकार ने स्पष्ट किया है[१५]। उपनिषदों में इस को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **ब्रह्म (परमात्मा) आनन्द स्वरूप है जिसको प्राप्त करके जीवात्मा आनन्द** का **अनुभव** करता है। एक **आनन्द को देने वाला** और एक **आनन्द को प्राप्त करनेवाला** है यही ब्रह्म और जीव में भिन्नता है[१६]।

सापेक्ष शब्द एवं विधि निषेध :- सर्वज्ञ और अल्पज्ञ ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। एक दूसरे की अपेक्षा से इनका प्रयोग होता है। यदि **अल्पज्ञ-जीवात्मा** न हो तो किस की दृष्टि से **परमात्मा को सर्वज्ञ** कहा जायेगा। अल्प शक्तिमान् जीव न हो तो किसी की दृष्टि से ईश्वर सर्व शक्तिमान् कहलायेगा। **श्रोता** के विना **वक्ता**, या **रोगी** के विना **चिकित्सक**, **छात्र** के विना **शिक्षक** का कोई उपयोग नहीं है उसी प्रकार कर्म करने और कर्म का फल भोगनेवाला जीवात्मा न हो तो कर्म फल देनेवाले परमात्मा का क्या उपयोग या महत्व है। अर्थात् विना जीव के ब्रह्म की कोई उपयोगिता नहीं अतः सापेक्षवाचक शब्दों से भी स्पष्ट होता है ब्रह्म (ईश्वर) से भिन्न जीवात्मा की सत्ता है। यदि **जीवात्मा न हो** तो वेदादि शास्त्रों उपदिष्ट विधि और निषेध वाक्यों का क्या उपयोग होगा ? जैसे वेद में उपदेश है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ अस्थिर अर्थात् सदा न रहनेवाला है जो कल था वह आज नहीं है और जो आज है वह कल नहीं रहनेवाला है इसलिये हे मनुष्य ! सांसारिक पदार्थों (भोगों) का त्यागपूर्वक **भोग कर**[१७]। **खेती कर**, जुआ **मत**

खेल[१८] इत्यादि उपदेश जीवात्मा के लिये है। यदि जीवात्मा न हो और केवल ब्रह्म ही ब्रह्म हो, तो क्या ब्रह्म स्वयं अपने (ब्रह्म) को उपदेश दे रहा है।

ब्रह्म और प्रकृति :- अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तो जब यह पूछा जाता है कि जगत् का उपादान कारण क्या है जिससे जगत् बना है। (जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है इसमें मिट्टी घड़े का उपादान कारण है और घड़ा बनानेवाला कुम्हार (कुम्भकार) निमित्त कारण है। इसका शंका का समाधान करते हुए अद्वैतवाद के विद्वान् कहते हैं कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है, ऐसा मानने पर ब्रह्म में विकार आ जायेगा तब **ब्रह्म निर्विकार** नहीं रहेगा तो इसका समाधान करते हुए अद्वैतवाद की ओर से कहा जाता है कि ब्रह्म की शक्ति माया है, माया का विकार या परिणाम जगत् है। जब उनसे माया के विषय में पूछा जाता है कि माया क्या है ? यह ब्रह्म का गुण है या द्रव्य (पृथक् तत्त्व पदार्थ) है तो इसका कोई समुचित उत्तर इन (अद्वैतवाद या नवीन वेदान्त) के पास नहीं है। वह (माया) तो अनिर्वचनीय है केवल मात्र यह उत्तर देते है। समस्या यह है कि यदि माया को ब्रह्म का गुण माना जाय तो वह ब्रह्म का गुण है क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यदि गुण-गुणी का **समवाय सम्बन्ध** है तो **माया ब्रह्म के साथ सदा रहेगी** तो **ब्रह्म विकारी हो जायेगा**। यदि द्रव्य (पदार्थ) है तो फिर एक (अद्वैत) नहीं रहा फिर तो दो (**ब्रह्म और माया**) हो जायेंगे इत्यादि अनेक शंकाए उपस्थित होती हैं-

वेदान्त दर्शन के रचयिता ने ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति की पृथक् सत्ता मानी है। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। उपादान कारण में परिवर्तन होता है जैसे मिट्टी से घड़ा या धागे से कपड़ा बनता है वैसे ही प्रकृति से जगत् बनता है। इस विषय को ब्रह्म सूत्रकार ने अनेक सूत्रों द्वारा स्पष्ट किया है[१९]। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर दोनों (निमित्त और उपादान) कारण तत्त्वों का विवेचन किया है। **ब्रह्म** जगत् का **निमित्त कारण** है तथा प्रकृति जगत् का **उपादान** कारण है[२०]। इसी विषय में सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि परमात्मा अपने संकल्परूपी प्रयत्न से उपादान कारण रूप प्रकृति को प्रेरित करके सृष्टि की रचना करता है[२१]। श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'माया' शब्द प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है[२२]। इससे विदित होता है कि ब्रह्म ने माया अर्थात् प्रकृति से जगत् की रचना की है।

प्रमाण –

१. दृश्यते अनेन अस्मिन् इति वा दर्शनम् (पाणिनीय व्याकरण)
२. सर्वज्ञानमयो हि सः .... (मनु.)
३. वक्ष्यति च कर्म ब्रह्म मीमांसयोरेक शास्त्रत्वम् ....
(आचार्य रामानुज रचित श्रीभाष्य वेदान्त १-१-१)
४. तदिदं विंशत्यध्याय निबद्धम् (मीमांसा शास्त्रम्), तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्व मीमांसा शास्त्रम्..धर्मविचारपरायणं.. ब्रह्म विचार परायण व्यास कृतम्...(प्रपंचहृदय- उपांग प्रकरण पृ.३८-३९ यु.मी. रचित मीमांसा शाबरभाष्य के शास्त्रावतार प्रकरण पृष्ठ ३)
५. वेदान्त दर्शन के अनेक सूत्रों मे बादरायण का नाम मिलता है, वे अधोलिखित है।
क) अनुस्मृतेर्बादरिः (१-२-३०)
ख) पूर्वं तु बादरायणो हेतुर्व्यपदेशात् (३-२-४१)
ग) पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः (४-४-१)
घ) अधिकोपदेशात तु बादरायणस्यैवं दर्शनात् ॥ (४-४-८)
६. भगवद् बोधायन कृतां विस्तीर्णा ब्रह्मसूत्र वृत्ति
पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः.....(वेदान्त श्रीभाष्य १-१-१)
७. सांगोपांगस्य वेदस्य पूर्वोत्तरकाण्ड संभिन्नस्याशेष वाक्यार्थ विचार परायणं मीमांसा शास्त्रम्। तदिदं विंशत्यध्याय निबद्धम्। ...... तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसा शास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाग्यंबोधायनेन कृतम्। तद् ग्रन्थ बाहुल्य भयादुपेक्ष्य किञ्चित् संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम् ॥ (प्रपंचहृदय उपांग प्रकरण पृ. ३९)
८. अथ गौः इत्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीयाः
इति भगवानुपवर्षः (शाबरभाष्य मीमांसादर्शन १-१-५)
९. सर्वं खल्विदं ब्रह्म।
१०. ब्रह्म सत्यं जगद् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥
११. जागृद् भावानां दृश्यानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि......
१२. अहं ब्रह्मास्मि
१३. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (वेदान्त १-१-१)
१४. नेतरोऽनुपपत्तेः। (१-१-१६)
१५. भेद व्यपदेशाच्च।
१६. रसो वै सः। यं लब्ध्वा आनन्दी भवति ... (तैति. .. २-७)
१७. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (यजु. ४०-१)
१८. द्यूतैर्मा क्रीड कृषिमित् कृषस्व... । (वेद)
१९. प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ॥ अभिध्योपदेशात् ॥
आत्मकृतेः परिणामात् ॥ साक्षाच्चोभयाम्नानात् (वेदान्तदर्शन १-४-२३ से २६)
२०. साक्षाच्चोभयाम्नानात् (वेदान्त १-४-२५)
२१. आत्मकृतेः परिणामात् ॥ (वेदान्त १-४-६)
२२. मायां तु प्रकृति विंद्यात् मायाविनं महेश्वरम् ॥ (श्वेता ४-१०)

वेदान्त दर्शन

प्रथम अध्याय

ब्रह्म और उसके वाचक शब्द :- इस शास्त्र के प्रथम अध्याय में चार पाद हैं तथा इसमें १३४ सूत्र हैं। इस अध्याय में ब्रह्म की जिज्ञासा तथा वह जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कर्ता और सच्चिदानन्द स्वरूप है। तथा आकाश प्राणादि शब्द भी आध्यात्मिक प्रकरण में ब्रह्म के वाचक हैं, यह प्रथम पाद में विवेचन किया है। वेदान्त दर्शन का प्रारम्भ करते हुए महर्षि वेदव्यास ने लिखा है कि अब यहां से अर्थात् इस सूत्र से ब्रह्म को जानने की इच्छा की जाती है[1]। अर्थात् संसार में रहते हुए सांसारिक भोगों की अनित्यता तथा नश्वरता का अनुभव होने के कारण तथा वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करके अनादि अखण्ड सर्वज्ञ ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है।

ब्रह्म और उसकी जिज्ञासा करनेवाला जीव :- वेदान्त दर्शन का प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि अब ब्रह्म को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) की जाती है, इस प्रथम सूत्र से ही स्पष्ट हो रहा है कि ब्रह्म की सत्ता पृथक् है और उसको जानने की इच्छा करनेवाला जीवात्मा पृथक् है। ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाले (जीवात्मा) की भी सत्ता अवश्य ही है, यदि वह न होता तो जानने की इच्छा कौन करता है ? यदि कोई अन्य नहीं है तो क्या ब्रह्म स्वयं अपने आपको जानने की इच्छा करता है ? क्या कोई व्यक्ति स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ सकता है ? ऐसा कभी नहीं होता है, ठीक इसी तरह ब्रह्म स्वयं अपने आप को जानने की जिज्ञासा नहीं कर सकता है। अतः इस प्रथम सूत्र से ही स्पष्ट हो रहा है कि ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य की भी सत्ता है जो ब्रह्म जानने की इच्छा (जिज्ञासा) करता है। एक जिज्ञासा करनेवाला तथा एक जिसकी जिज्ञासा की जा रही है ये दो हैं, दो (ब्रह्म तथा जिज्ञासा करनेवाला जीवात्मा का अस्तित्व होने) के कारण द्वैत स्पष्ट हैं, अतः प्रथम सूत्र से ही **'अद्वैतवाद'** का निराकरण हो जाता है।

ब्रह्म और अविद्या :- अद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये अद्वैतवाद के अनुयायी कहते हैं कि अविद्या के कारण ब्रह्म **'जीव'** हो जाता है। अविद्या तथा माया इन शब्दों के द्वारा इतना भ्रमित किया जाता है कि पाठक भ्रम में पड़ जाता है। जब इनसे पूछा जाता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्व की सत्ता हैं ही नहीं तो यह 'अविद्या या माया' कहां से आ गयी ? तथा ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तो क्या अविद्या ब्रह्म का गुण है ? और यदि ब्रह्म का गुण अविद्या मान

लिया जाय तो यही कहना होगा कि सूर्य में अन्धेरा (अर्थात् सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या) है। फिर ब्रह्म को सर्वज्ञ, सच्चिदानन्द स्वरूप आदि नहीं कह सकते हैं तथा मूल सूत्र में ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं है कि अविद्या के कारण सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ जीव हो गया या ब्रह्म स्वयं को जीव समझकर व्यवहार करता है, सूत्र में तो यह स्पष्ट ही कहा गया है कि ब्रह्म की जिज्ञासा की जाती है। ब्रह्म पृथक् है और जिज्ञासा करनेवाला जीव पृथक् हैं। इन दोनों की सत्ता का अस्तित्व पृथक् पृथक् है यह इस सूत्र से सिद्ध होता है।

ब्रह्म और जगत् :- ब्रह्म की जिज्ञासा का उल्लेख करके अगले सूत्र में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिससे इस संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता है[२]। ऐसे ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं। अर्थात् ब्रह्म ही इस संसार की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाला है। इस सूत्र द्वारा भी सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि **संसार** अलग है और **संसार का बनानेवाला** अलग है। सृष्टि बनाने वाला, पालन करने वाला तथा प्रलय करने वाला ब्रह्म पृथक् पृथक् नहीं अपितु एक ही है यह भी सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। प्रथम सूत्र में ईश्वर और जीव की सत्ता (अस्तित्व) का उल्लेख करके द्वितीय सूत्र में सृष्टि-संसार और उसके बनानेवाले का वर्णन करके इन दोनों सूत्रों से ईश्वर-जीव और प्रकृति की सत्ता (अस्तित्व) को स्पष्ट कर दिया है। वेदान्त दर्शन का रचयिता त्रैतवाद को मानता है जो वेद शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है।

जगत् का नियन्ता ब्रह्म :- द्वितीय सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि जड़ वस्तु अपने आप नहीं बनती है उसको बनानेवाला कोई अवश्य होता है। जड़ पदार्थ को बनानेवाला या उसमें गति देनेवाला चेतन ब्रह्म या जीवात्मा होता है। संसार के परमाणु जड़ हैं और वे गतिशील हैं जिसका सूत्रकार ने सूत्र में उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट होता है कि इनको गतिशील करनेवाला चेतन ब्रह्म है। इस विषय में वेद में भी स्पष्ट वर्णन आता है कि, यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा धारण की जाती है तथा अन्त में अपने कारण में लीन हो जाती है इस सबका अध्यक्ष-नियन्ता परमात्मा है[३]। अर्थात् **परमेश्वर** ही जगत् की **उत्पत्ति, स्थिति** और **प्रलय** करने वाला है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी लिखा है कि जिससे यह प्राणि-अप्राणिरूप भौतिक जगत् उत्पन्न हुआ है जिससे ये सब उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं स्थिर रहते हैं और अन्त में जिसके कारण ये अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, उसको तुम जानने की इच्छा करो वह ब्रह्म है। अर्थात् जगत् उत्पत्ति स्थिति और प्रलय

करनेवाला ब्रह्म है[४]।

ब्रह्म दो नहीं अपितु एक :- वेद उपनिषद् दर्शन शास्त्रादि के प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करता है। आचार्य शंकर ने अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिये इस सूत्र की व्याख्या करते हुए ब्रह्म के दो भेद किये हैं। एक **निर्विकार ब्रह्म** तथा **दूसरा ईश्वर** जो संसार की उत्पत्ति पालनादि करता है। जबकि सूत्रकार महर्षि वेदव्यास ने इन सूत्रों में ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है कि ब्रह्म अलग है और ईश्वर अलग है। अर्थात् दुनिया का बनानेवाला ब्रह्म पृथक् है और सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म पृथक् है। सूत्रकार के अनुसार तो संसार का जो बनानेवाला वही पालन करने वाला और वही प्रलय करनेवाला ब्रह्म है, और जिस ब्रह्म की जिज्ञासा के लिये इस शास्त्र का प्रारम्भ किया वह ब्रह्म भी वही है। ऐसे सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्म को जानने की इच्छा इसलिये की जाती है कि उसको जानने के पश्चात् मनुष्य सांसारिक दुःखों और कष्टों तथा मृत्यु से मुक्त हो जाता है। यजुर्वेद में स्पष्ट ही वर्णन आता है कि उस ब्रह्म को जानकर मनुष्य मृत्यु से मुक्त हो जाता है और सभी कष्टों से उसका छुटकारा हो जाता है। परमात्मा को जाने बिना कष्टों से छूटने का दूसरा अन्य कोई भी उपाय (मार्ग) नहीं है[५]। ब्रह्म के जानने का यह महत्व है, इसलिये ब्रह्म की जिज्ञासा का उल्लेख शास्त्र के प्रारम्भ में सूत्रकार ने किया है।

निमित्त और उपादान कारण :- ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है तथा प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है। घड़ा बनानेवाला कुम्हार घड़े का निमित्त कारण है तथा मिट्टी से घड़ा बनाता है इसलिये मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। इसी प्रकार संसार का बनानेवाला परमात्मा निमित्त कारण है और प्रकृति से जगत् बनता है इसलिये प्रकृति संसार का उपादान कारण है। उपादान और निमित्त दोनों कारण पृथक् पृथक् हैं। उपादान कारण में परिवर्तन होकर ही मिट्टी से घड़ा या प्रकृति से संसार बनता है किन्तु उपादान कारण अपने आप स्वयं परिवर्तित नहीं होता है इसको परिवर्तित करनेवाला, बनानेवाला निमित्त कारण कुम्हार (कुम्भकार) या परमात्मा है। निमित्त कारण (कुम्हार या परमात्मा) में कोई परिवर्तन नहीं होता अपितु वह उपादान कारण में परिवर्तन करता है।

अभिन्न निमित्तोपादान कारण :- अद्वैतवादी ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण भी मानते हैं तथा निमित्त कारण भी मानते हैं इसलिये वे ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं। इसके लिये वे उदाहरण देते हैं कि जैसे

मकड़ी से जाला बनता है वैसे ही ब्रह्म से संसार बनता हैं। मकड़ी ही जाले को बनानेवाली निमित्त कारण है और उसके शरीर से जाला बनता है अतः उपादान कारण भी वही है इसलिये जाले का मकड़ी अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वैसे ही ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण हैं।

पृथक् पृथक् निमित्त और उपादान कारण :- ऊपर दिये हुए उदाहरण के द्वारा भी यही स्पष्ट होता है कि निमित्त और उपादान कारण एक नहीं अपितु पृथक् पृथक् दो कारण हैं। मकड़ी के शरीर में रहनेवाला **जीवात्मा** जाले का **निमित्त कारण** है जो जाला बनाता है तथा मकड़ी का **शरीर** (जिसमें मकड़ी का जीवात्मा रहता है) जिससे वह जाला बनता है अर्थात् मकड़ी का शरीर **उपादान कारण** है। यदि मकड़ी के शरीर से जीवात्मा निकल जाय, अर्थात् मकड़ी मर जाय तो अकेला मकड़ी का शरीर जाला नहीं बना सकता है। इन दोनों (शरीर और जीवात्मा) का होना और दोनों का स्वरूप से एक दूसरे से पृथक् होना भी स्पष्ट करता है संसार के बनने में उसका निमित्त कारण (ब्रह्म) तथा उपादान कारण (प्रकृति) दोनों स्वरूप से एक दूसरे से भिन्न हैं अर्थात् ब्रह्म चेतन है और प्रकृति जड़ है।

वेद ज्ञान प्रदाता परमात्मा :- ब्रह्म ने जगत् को बनाकर इस संसार में विद्यमान पदार्थों का उपयोग मनुष्य को कैसे करना चाहिये तथा मनुष्य किस प्रकार दुःखों से छूटकर परमानन्द मोक्ष को प्राप्त कर सकता है इसके लिये परमेश्वर ने ज्ञान भी दिया है जिसे वेद के नाम से जाना जाता है। इसका वर्णन सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया है कि ब्रह्म वेदादि शास्त्रों का कारण होने से वह जगत् का निमित्त कारण है उसके अस्तित्व का ज्ञान वेद से होता है[६]। अर्थात् जगत् को बनानेवाला और वेदादि शास्त्रों का ज्ञान देनेवाला वही एक ब्रह्म है। इसी विषय में योग दर्शन में लिखा है कि वह परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है[७]। जैसे मनुष्य अपने गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, गुरु भी अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त करता है, सृष्टि के आदि में मनुष्य ने किससे ज्ञान प्राप्त किया उसका उत्तर देते हुए योग दर्शनकार ने लिखा है कि सृष्टि के आदि में परमेश्वर से ही मनुष्य ने ज्ञान प्राप्त किया है इसलिये वह परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है।

वेद और उपनिषदों में अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि वेदादि शास्त्रों का ज्ञान प्रदाता परमात्मा है। यजुर्वेद में लिखा है कि यज्ञ स्वरूप ब्रह्म से ऋग्वेद-यजुर्वेद-साम वेद और अथर्व वेद प्राप्त हुए[८]। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी स्पष्ट ही लिखा है कि ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद, अथर्ववेदादि शास्त्र उस

ब्रह्म के श्वास रूप है उस ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं[९]। इस प्रकार वेद उपनिषद् दर्शन आदि शास्त्रों के प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि वेदादि शास्त्रों का ज्ञान देनेवाला ब्रह्म-परमेश्वर है।

सृष्टि कर्ता और ज्ञान प्रदाता एक ही ब्रह्म :- किसी को यह सन्देह न हो जाय कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करनेवाला **ब्रह्म पृथक्** है और वेदादि शास्त्रों का **ज्ञान देनेवाला ब्रह्म पृथक्** है। इसलिये इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि समन्वय के होने से सृष्टिकर्ता और वेदादि शास्त्रों का ज्ञान देनेवाला **ब्रह्म एक** ही है[१०]। अर्थात् जगत् और वेद के समन्वय से स्पष्ट होता है कि इन दोनों का कर्ता एकमात्र ब्रह्म ही है। जो नियम जड़ और चेतन जगत् में पाये जाते हैं वही नियम वेदों में भी विद्यमान हैं। अर्थात् वेदों में वर्णित सृष्टि विषयक नियम और सृष्टि में विद्यमान नियमों का वर्णन वेदों में होने से दोनों में समन्वय है, एकरूपता है क्योंकि दोनों का ही निर्माता परमात्मा है। उदाहरण के लिये जैसे हम आंखों से देखते हैं और कानों से सुनते हैं तो वेदों में भी ऐसा ही वर्णन है[११]। ऐसा नहीं है कि संसार में तो मनुष्य आंखो से देखता है कानों से सुनता है और वेदों में कानों से देखने का और आंखो से सुनने का वर्णन हो, अतः सृष्टिक्रम में और वेदों के वर्णन में समन्वय अर्थात् एकरूपता होने से स्पष्ट होता है कि वेदादि शास्त्रों का ज्ञान देनेवाला तथा सृष्टि की रचना करनेवाला परमात्मा एक ही है।

उपादान कारण विषयक शंका :- ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है यह सिद्ध करने के लिये कुछ विद्वान् यह तर्क देते हैं कि जो वस्तु उत्पन्न होती है उसके उपादान कारण में व्याकरण के नियम से पंचमी विभक्ति होती है[१२] जैसे "गोबर से बिच्छू पैदा होता है (गोमयात् वृश्चिको जायते)"। यहां पर गोमयात् (गोबर से) शब्द में पंचमी विभक्ति हो रही है इसी प्रकार **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते...** (तैत्ति. ३-११) उपनिषद् वाक्य (यतो) में पंचमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है ऐसे ही वेदान्त के द्वितीय सूत्र में **'यतः'** शब्द में तथा तृतीय सूत्र में **'योनित्वात्'** शब्द में पंचमी विभक्ति के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त नहीं अपितु उपादान कारण है क्योंकि इन स्थानों पर पंचमी विभक्ति में प्रयुक्त शब्द ब्रह्म के वाचक है अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त नहीं अपितु उपादान कारण है।

पंचमी विभक्ति विषयक शंका समाधान :- इस विषय में एक यह भी भ्रान्ति है कि उपादान कारण में ही पंचमी विभक्ति होती है। व्याकरण के

अनुसार उपादान में ही नहीं अपितु कारणमात्र में पंचमी विभक्ति होती है। जैसे **पुत्रात् प्रमोदो जायन्ते**-पुत्र से प्रसन्नता होती है। यहां प्रसन्नता का कारण पुत्र है। अतः पुत्र शब्द में पंचमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार निमित्त कारण में भी पंचमी विभक्ति होती है। **तस्माद् अश्वा अजायन्त**-परमात्मा जो निमित्त कारण है उससे घोड़े पैदा होते हैं अर्थात् घोड़ा-गाय आदि पशुओं का निर्माता ब्रह्म हैं। इसलिये वेदान्त दर्शन् के सूत्रों में पंचमी विभक्ति वाले पदों से ब्रह्म का निमित्त कारण होना ही सिद्ध होता है। ब्रह्म ही संसार और वेदादि शास्त्रों का निर्माता है।

निमित्त कारण में हेतु :- ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण अर्थात् निर्माता है इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में पुनः सूत्रकार ने लिखा है कि ईक्षण क्रिया का कर्ता होने से भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है अर्थात् ब्रह्म जगत् का निर्माता है। यह बात शब्द प्रमाण से भी स्पष्ट होती है[१३]। अर्थात् चेतन में ही इच्छा हो सकती है। चेतन ही इच्छा कर सकता है, जड़ पदार्थ में इच्छा करने की शक्ति नहीं होती है। वेदादि शास्त्रों में ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। जिनसे स्पष्ट होता है कि ब्रह्म ने ईक्षण किया। अतः जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म है। छान्दोग्य उपनिषद् ६-२-३ में लिखा है कि उसने् इच्छा की कि मै बहुत हो जांऊ[१४]। यह चेतन में ही सम्भव है क्योंकि जगत् के मूल उपादान कारण को कार्यरूप में परिवर्तित करने के ज्ञान को ईक्षण कहते हैं, यह चेतन का ही धर्म है इसलिये चेतन ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है।

चेतन स्वरूप ब्रह्म :- ब्रह्म के चित् स्वरूप का वर्णन करते हुए पुनः सूत्रकार ने लिखा है कि उस ब्रह्म में आस्था रखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ मुमुक्षु के लिये मोक्ष का उपदेश है ऐसा शास्त्रीय उल्लेख होने से भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्म चेतन स्वरूप है[१५]। क्योंकि चेतन जीवात्मा जड़ प्रकृति से मोक्ष की कामना करके कभी भी उससे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है। मोक्ष तो चेतन स्वरूप ब्रह्म से ही प्राप्त हो सकता है, इसलिये उससे ही मोक्ष को प्राप्त करने का वर्णन यजुर्वेद में विद्यमान है[१६]। इसी प्रकार अथर्ववेद में आता है कि जो उस (ब्रह्म) को जान लेता है उसे मृत्यु का भय नहीं रहता है[१७]।

ब्रह्म चेतन स्वरूप और निमित्त कारण :- ब्रह्म चेतन स्वरूप है तथा इस विश्व का निमित्त कारण है। इस विषय में अनेक तर्क और प्रमाण देकर शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है। जड़ और चेतन की भिन्नता को स्पष्ट करने के लिये

यह तर्क दिया जाता है कि जड़ में गति नहीं होती है उसको गतिशील बनानेवाला कोई चेतन तत्त्व होता है। चेतन प्राणी गतिशील होता है। ब्रह्म के चित्-चेतन स्वरूप के विषय में लिखा है कि गति-ज्ञान चेतन कर्ता में ही उपलब्ध होने से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म चेतन स्वरूप है। और वह सृष्टि का निमित्त कारण है[१८]। गति की समानता सांसारिक जीवन में स्पष्ट दीखती है। जो चेतन होता है वही गतिशील होता है तथा वही निमित्त कारण होता है। घड़े को बनानेवाला कुम्हार चेतन तथा वह घड़े का निमित्त कारण है। उपनिषदों में उसे चेतन होने के कारण निमित्त कारण कहा है जैसे **तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः** (तैत्ति. २-१) अर्थात् उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। **आत्मन एष प्राणो जायते (प्रश्नोप. ३-३)** आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुए इत्यादि अनेक प्रमाण है जहां पर परमात्मा को चित्-चेतन निमित्त कारण के रूप में वर्णित किया गया है।

चेतन ब्रह्म विषयक प्रमाण :- ब्रह्म के चेतन स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि वेद से प्रतिपादित होने से भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्म चेतन स्वरूप तथा जगत् का निमित्त कारण है[१९]। अर्थात् वेदों में ब्रह्म को चेतन तथा जगत् का कर्ता (निमित्त कारण) कहा है। जैसे **ततो विराडजायत ...** (यजु. ३१-५) उस परमात्मा से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ। (ऋग्वेद १०-१२९-२) में आया है कि प्रलय काल में **स्वधा** (प्रकृति) के साथ वह चेतन स्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) विद्यमान रहता है। **(आनीदवातं स्वधया तदेकम्..)** उपनिषदों में भी वर्णन है कि ब्रह्म चेतन स्वरूप है। **साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** (श्वेता. ६-११) **यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यैष महिमा भुवि ...** (मुण्डकोपनिषद् २-२-७) इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि ब्रह्म चित् स्वरूप है।

ब्रह्म आनन्द स्वरूप :- ब्रह्म के सत् और चित् स्वरूप का विवेचन करके उसके आनन्द स्वरूप का वर्णन सूत्रकार अगले सूत्रों में करते हैं। ब्रह्म को जानने की इच्छा तथा ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करनेवाला है, वह शास्त्रों का मूल उपदेष्टा है यह विवेचन प्रारम्भिक सूत्रों में किया गया है जो ब्रह्म के **सत्** स्वरूप-अर्थात् उसकी **सत्ता**-अस्तित्व का वर्णन है तथा ईक्षते-इच्छा ईक्षण क्रिया के कर्ता, गतिशीलता आदि के विवेचन के द्वारा उसके **चित्** (चेतन-ज्ञान) स्वरूप का वर्णन किया गया है जो परमात्मा चेतन (चित्) स्वरूप होने से इस सृष्टि का निमित्त कारण है। अब अगले सूत्रों में ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि ब्रह्म (परमात्मा) आनन्दमय है, ऐसा बार बार कहे

जाने से स्पष्ट होता है कि परमात्मा आनन्द स्वरूप हैं[२०]। अर्थात् विविध प्रसंगों में जहां भी ब्रह्म का वर्णन आया है उसे आनन्द स्वरूप कहा गया है। जैसे उपनिषदों में ब्रह्म के विषय में लिखा है कि उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न परमात्मा **आनन्दमय** है, आनन्द स्वरूप है[२१]। ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि ब्रह्म रस है जिस को प्राप्त कर जीवात्मा आनन्द को प्राप्त कर लेता है[२२]। इस प्रकरण में ब्रह्म को रस से आनन्द स्वरूप निर्दिष्ट किया है जिसके द्वारा जीवात्मा भी आनन्द से भर जाता है।

ब्रह्म में आनन्द की अधिकता :- व्याकरण के अनुसार आनन्द शब्द से मयट् प्रत्यय होकर आनन्दमय शब्द होता है। मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में भी होता है तथा प्रचुर (अधिक) अर्थ में भी होता है। इसलिये किसी को यह सन्देह न हो जाय कि यहां आनन्द शब्द से विकार अर्थ मयट् प्रत्यय होकर **'आनन्दमय'** शब्द बना है जिससे ब्रह्म आनन्द स्वरूप है यह अर्थ न होकर ब्रह्म आनन्द का विकार है यह अर्थ है। ऐसे सन्देह की निवृत्ति करने के लिये सूत्रकार ने अगले सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है कि मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में ही नहीं होता है अपितु प्रचुर (अधिक) अर्थ में भी होता है और प्रचुर अर्थ में ही यहां आनन्द शब्द से मयट् प्रत्यय हो रहा है[२३]। अर्थात् परमात्मा में आनन्द की प्रचुरता, सबसे अधिकता है इस लिये उसे आनन्दमय कहा जाता है।

सत् चित् और आनन्द ब्रह्म :- प्रकृति की सत्ता अस्तित्व है इसलिये उसे **'सत्'** कहते हैं। जीवात्मा की सत्ता भी है किन्तु उसमें चेतनता भी है इसलिये जीवात्मा को **सत्-चित्** कहते हैं। जीव चेतन और प्रकृति अचेतन-जड़ है यही दोनों में भिन्नता है। जीव सत् चित् होने पर भी आनन्द से रहित है। आनन्द को प्राप्त करने के लिये वह परमात्मा की उपासना करता है क्यों कि ब्रह्म आनन्द का भण्डार है। जिसके पास जो वस्तु होती है उसी से वह वस्तु प्राप्त होती हो। परमात्मा आनन्द स्वरूप है इस को स्पष्ट करने के लिये अगले सूत्र में सूत्रकार लिखते हैं कि परमात्मा को आनन्द का हेतु कहे जाने से भी विदित होता है कि ब्रह्म **आनन्द स्वरूप** हैं[२४]। तैतिरीय उपनिषद् (एष ह्येवानन्दयति २-७) में लिखा है कि ब्रह्म जीवात्मा को आनन्दित करता है, आनन्द से युक्त कर देता है। अर्थात् जो ब्रह्म प्रचुर आनन्दवाला है। वही तो जीवात्माओं को आनन्द से युक्त कर सकता है लोक में भी देखा जाता है कि जिस के पास धन होता है वही दूसरों को धन दे पाता है। जिसके पास विद्या होती है वही दूसरों को विद्या देते हैं। इसी

प्रकार निरतिशय आनन्द का भण्डार जो ब्रह्म है वही जीवात्मा आनन्द देता है। इस से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है।

ब्रह्म के आनन्द स्वरूप में हेतु :- ब्रह्म के आनन्द स्वरूप होने के विषय में अगले सूत्र में लिखा है कि वेदों में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि परमात्मा आनन्दमय है और परमात्मा को प्राप्त करके जीवात्मा भी आनन्दित हो जाता है[२५]।

वेदमन्त्रों में ब्रह्म को आनन्दमय कहा है जैसे **कस्मै देवाय हविषा विधेम** (यजु. १३-४) **नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ...** यजु. (१६-४०) इसी तरह उपनिषदों में भी ब्रह्म को आनन्दमय कहा है ...

जीव और ईश्वर में भेद :- इस प्रकरण में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है इसलिये सूत्रकार ने लिखा है कि ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है क्योंकि किसी भी युक्ति के द्वारा ऐसा प्रतिपादन नहीं होता है कि जीवात्मा आनन्द स्वरूप है इसलिये युक्ति के अभाव में जीव आनन्द स्वरूप नहीं है[२६]। जीव आनन्द को चाहता है उसकी इच्छा करता है तथा आनन्द प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है इससे भी सिद्ध होता है कि जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है[२७]। जीव आनन्दमय नहीं है यह स्पष्ट ही है इसको स्पष्ट करने के लिये अनुमान प्रमाण की भी कोई आवश्यकता नहीं है, यह इस सूत्र में स्पष्ट किया है।

प्रथम पाद में ब्रह्म का लक्षण करते हुए स्पष्ट किया कि ब्रह्म **सच्चिदानन्द स्वरूप** है। जीवात्मा **सत्-चित्** है तथा प्रकृति **सत्** है। जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है। आध्यात्मिक प्रकरण में प्राण, ज्योति आदि शब्द भी ब्रह्म के वाचक होते हैं। इस पाद के अन्त में उनके सूत्रों के द्वारा यह विवेचन करके स्पष्ट किया है। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन आता है कि यह सारा जगत् आकाश अर्थात् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है अर्थात् जगत् बनानेवाला (निमित्त कारण) ब्रह्म ही है वही इसका आधार है[२८]। यहां आकाश शब्द ब्रह्म का वाचक है। क्योंकि ब्रह्म अर्थात् आकाश की प्रेरणा के विना पंचमहाभूतों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तैतिरीय उपनिषद् (२-१) में तो स्पष्ट ही उल्लेख है कि उस ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति हुई है। आकाश के बाद वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति हुई ।

ब्रह्म और जगत् भिन्नः- वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय के **प्रथम पाद** में ब्रह्म की जिज्ञासा, ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करनेवाला तथा

वेदादि शास्त्रों का ज्ञान देनेवाला सच्चिदानन्द स्वरुप है यह वर्णन किया गया तथा आध्यात्मिक प्रसंग में आकाश प्राण-ज्योति आदि शब्द ब्रह्म के वाचक होते हैं, यह भी स्पष्ट किया गया। **द्वितीय पाद** में ब्रह्म का ही वर्णन करते हुए लिखा है कि वेद-उपनिषद् आदि शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्म जगत् से भिन्न हैं[२९]। अर्थात् परमात्मा और संसार दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थलों पर आया है[३०]। अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषद् ३-८-९ में वर्णन आया है कि हे गार्गि। इस अक्षर अविनाशी ब्रह्म की व्यवस्था में सूर्य चन्द्रादि सभी विद्यमान है[३१]। अर्थात् सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि जड़ जगत् पृथक् है और इनको नियमों में रखनेवाला ब्रह्म पृथक् है। परमात्मा ने सूर्य चन्द्र पृथ्वी अन्तरिक्षादि सभी लोक लोकान्तरों को पूर्व सृष्टि के समान बनाया है। अर्थात् बनानेवाला परमात्मा और बनने वाले सूर्य चन्द्रादि जड़ पदार्थ पृथक् पृथक् (एक दूसरे से भिन्न) है यह वर्णन वेद में भी आया है[३२]।

ब्रह्म और जगत् एक नहीं:- जगत् और ब्रह्म की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि ब्रह्म के गुण इस जगत् में न होने के कारण जगत् और ब्रह्म एक नहीं हो सकते हैं, दोनों पृथक् पृथक् हैं[३३]। अर्थात् जड़ पदार्थ और चेतन तत्त्व के गुण भिन्न भिन्न देखे जाते हैं। जो गुण जड़ पदार्थ में होते हैं वे चेतन तत्त्व जीव ईश्वरादि में नहीं होते हैं और जो गुण ब्रह्म में आनन्द स्वरूप सर्वज्ञादि हैं वे जड़ जगत् में नहीं हैं। इसलिये स्पष्ट होता है कि परमात्मा से संसार भिन्न है।

जीव ईश्वर में भेद :- परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। यह अगले सूत्र में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जीव ब्रह्म नहीं हो सकता[३४]। अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों ही एक दूसरे से भिन्न है जीवात्मा अल्पज्ञ-अल्पशक्तिमान् तथा परमात्मा-सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है। इस तरह ईश्वर-जीव और जगत् (प्रकृति से निर्मित) ये तीनों ही पृथक् पृथक् हैं। इन तीनों के अस्तित्व को मानने के कारण वैदिक सिद्धान्त **त्रैतवाद** कहा जाता है।

उपनिषद् और जीव में ब्रह्म भेद :- जीव और ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि कर्म और कर्ता के रूप में जीव और ब्रह्म का उल्लेख होने से स्पष्ट होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं अपितु पृथक् पृथक् हैं[३५]। अर्थात् उपासना का जहां भी प्रकरण हैं वहां पर जीवात्मा उपासना क्रिया का कर्ता है और ब्रह्म कर्म हैं। कर्ता और कर्म का अलग वर्णन होने से ही ज्ञात होता है कि परमात्मा और जीवात्मा पृथक् पृथक् हैं। जैसे श्वेताश्वतर उपनिषद् में

आया है कि जो धैर्यशाली पुरुष अपनी आत्मा में स्थित उस ब्रह्म का ध्यान करता हैं उसको हमेशा सुख प्राप्त होता है। अन्य व्यक्तियों को सुख प्राप्त नहीं होता हैं[३६]।

मनुस्मृति और जीव-ब्रह्म भेद :- जीव तथा ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन स्मृति ग्रन्थों में भी मिलता है यह सूत्रकार ने उल्लेख किया है[३७]। अर्थात् स्मृति ग्रन्थों से भी जीव और ईश्वर का भेद पाया जाता है। जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है कि प्रकृत्यादि सूक्ष्म पदार्थों से भी अतिसूक्ष्म सबके नियन्ता, निर्विकार ब्रह्म का शुद्ध मन से मनुष्य ध्यान करें[३८]। गीता में भी आया है कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में विद्यमान है[३९]। प्राणी पृथक् है और उनके हृदय में रहनेवाला ईश्वर पृथक् है। इन उदाहरणों से स्पष्ट ही ईश्वर और जीव का भिन्न होना सिद्ध होता हैं अर्थात् ये दोनों पृथक् पृथक् हैं।

विशेषणों के कारण जीव-ब्रह्म में भेद :- जीव और ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन करते हुए पुनः सूत्रकार ने लिखा है कि जीव और ईश्वर के विशेषण भिन्न भिन्न होने से भी स्पष्ट होता है कि जीव तथा ईश्वर भिन्न भिन्न हैं[४०]। जैसे कठोपनिषद् में जीवात्मा को 'रथी' शरीर को रथ कहा हैं[४१]। अर्थात् शरीर रथ है और शरीर के अन्दर रहनेवाला जीवात्मा 'रथी' है। गीता (२-१३) में लिखा है कि जैसे शरीर में 'देही' अर्थात् जीवात्मा की बाल्य यौवन और जरावस्था होती है[४२]। अर्थात् जीवात्मा जब शरीर में रहता है तब शरीर बाल्यावस्था के पश्चात् युवावस्था और युवावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था को प्राप्त करता है। परमात्मा का विशेषण अशरीर अव्यय अरूप आदि आये हैं[४३]। ऋग्वेद में स्पष्ट आया है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो पक्षी सखा रूप से रहते हैं उनमें से एक पक्षी उस वृक्ष के फल को स्वाद से खा रहा है (अर्थात् सांसारिक भोगों को भोग रहा है) तथा दूसरा न खाता हुआ चारों ओर देख रहा है[४४]। अर्थात् जीवात्मा सांसारिक भोगों को भोगने वाला पक्षी है तथा न भोगता हुआ साक्षी रूप से चारों ओर देखने वाला परमात्मा है। इस तरह परमात्मा और जीवात्मा के भेद को वेदादि शास्त्रों में स्पष्ट ही प्रतिपादित किया है।

स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ :- जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता का वर्णन करके इस प्रसंग में लिखा है कि ईश्वर सब पदार्थों के अन्दर विद्यमान है अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक हैं[४५]। दो मूर्त अर्थात् आकारवाले पदार्थ एक स्थान पर नहीं रह सकते हैं किन्तु स्थूल के अन्दर सूक्ष्म रह सकता हैं। एक स्थूल पदार्थ और दूसरा उसके अन्दर रहने वाला सूक्ष्म पदार्थ एक स्थान पर रह सकते हैं जैसे पत्थर या लोहे में विद्युत् रहती है। पत्थर या लोहे विद्युत् सूक्ष्म है इसलिये एक ही स्थान

पर दो पदार्थ (पत्थर और विद्युत्) रहते हैं वैसे ही इस जड़ जगत् में परमात्मा विद्यमान है, प्रकृति सूक्ष्म है, प्रकृति से सूक्ष्म जीवात्मा है और जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा है, प्रकृति और जीवात्मा में विद्यमान रहने वाला परमात्मा है इसलिये अतः जीवात्मा जो भी कर्म करता या करने विचार करता है उसको भी परमात्मा जानता है, इसलिये परमात्मा को सर्वज्ञ कहा जाता है।

ब्रह्म सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी :- परमात्मा सब पदार्थों के अन्दर विद्यमान है, सर्वत्र व्यापक है। जीवात्मा सब जगह व्यापक नहीं है, इस कारण भी जीव तथा ईश्वर में भेद है। जीवात्मा सर्वव्यापक नही हैं इस विषय में लिखा है कि सब स्थानों में न होने से जीवात्मा सर्वगत सर्वव्यापक नहीं हो सकता हैं[४६]। जीवात्मा चेतन होने पर भी सर्वत्र व्यापक अर्थात् विभु नहीं हैं। विभु तो परमात्मा है। उसकी सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए लिखा है कि आधि दैवादिकों में परमात्मा विषयक धर्मों का उपदेश होने से स्पष्ट होता है कि परमात्मा अन्तर्यामी है[४७]। परमात्मा की सर्वव्यापकता के विषय में वर्णन है। जो पृथिवी में रहकर पृथिवी का अन्तरात्मा है जिसको पृथिवी नहीं जानती अपितु वह पृथिवी को जानता है पृथिवी जिसका शरीर है[४८]।

प्रकृति और जीव से ब्रह्म भिन्न :- सर्वव्यापक ब्रह्म के अदृश्य अरूप आदि विशेषण है जो उसके निराकार रूप को स्पष्ट करते हैं। इस विषय में सूत्रकार ने लिखा है कि निराकारादि धर्मों के कथन करने से परमात्मा अदृश्यत्वादि गुणों वाला हैं[४९]। उपनिषदों में ब्रह्म को चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का विषय न होने के कारण अदृश्य अरूपादि कहा है। हस्त पादादि कर्मोन्द्रियों से भी उसका ग्रहण नहीं होता है इसलिये उसे अग्राह्य अगोत्रम् आदि कहा है, शरीर इन्द्रिय, रूपादि से युक्त न होने के कारण ब्रह्म नित्य सर्वगत अतिसूक्ष्म, अविकारी अर्थात् विकार रहित बतलाया हैं[५०]। इन विशेषणों का प्रयोग परमात्मा के साथ होने से जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म नहीं हो सकते हैं अपितु ये दोनो ब्रह्म से भिन्न हैं। यह अग्रिम सूत्र में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विशेषण और भेद का उल्लेख होने से जीव और प्रकृति परमात्मा नहीं है[५१]। अर्थात् विशेषणों के कारण ही इनकी भिन्नता स्पष्ट होती है। परमात्मा और जीवात्मा को भी अक्षर कहा है किन्तु प्रकृति से परमात्मा की भिन्नता का वर्णन करते हुए उपनिषद् में लिखा है कि परमात्मा अक्षर से भी पर श्रेष्ठ है[५२]।

आलंकारिक रूप में परमात्मा का शरीर :- यदि कहीं पर परमात्मा के शरीर का वर्णन आया है तो वह मात्र केवल रूपक अलंकार है। यह भी

सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रूपक अलंकार द्वारा पृथिवी आदि को परमात्मा के शरीर के रूप में लिखा है[५३]। वेद और उपदनिषदों में आया है कि परमात्मा के पैर पृथिवी, उदर अन्तरिक्ष और सिर द्युलोक है[५४]। इसी प्रकार उपनिषद् में अग्नि परमात्मा का मुख है चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशायें श्रोत्र (कान) हैं वायु प्राण है पाद (पैर) पृथिवी है[५५]। यह सब रूपक अलंकार है वास्तव में ब्रह्म तो निराकार है।

सभी लोक लोकान्तरों का आधार ब्रह्म :- पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि का आधार या धारण करने वाला परमात्मा है[५६]। अर्थात् सभी लोक लोकान्तरों को धारण करनेवाला परमात्मा है। जैसा कि वेद में आया है। अर्थात् जिसने द्युलोक पृथिवी आदि लोक धारण कर रखे हैं उस परमेश्वर की हम उपासना करते हैं[५७]। मुण्डकोपनिषद् में भी आया है कि जिसमें पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु लोक तथा सब प्राणों के साथ जिसमें मन ओतप्रोत है उसी एक मात्र ब्रह्म को जानो, उससे भिन्न अन्य देवताओं के उपासना विषयक वाक्यों को छोड़ दो[५८]। परमात्मा द्युलोक पृथिवी आदि लोकों को धारण करता है उसके आश्रय में ये सब टिके हुए हैं, इस विषय में अनुमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, यह तो प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। यह सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र में लिखा है। अर्थात् समस्त विश्व का आधार धारण करने वाला वह परब्रह्म ही है[५९]।

ब्रह्म ही प्राप्तव्य :- इतना ही नहीं अपितु मुक्त आत्माओं का प्राप्य स्थान भी वह पर ब्रह्म ही है यह भी सूत्रकार ने स्पष्ट किया है[६०]। उपनिषदों में आता है कि उसी एक ब्रह्म को जानो[६१]। जब मनुष्य साधना करके ब्रह्म को जान लेता है तब उसकी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि परमात्मा को जान लेने पर हृदय की दुर्वासना की गांठे टूट जाती हैं। सारे सन्देह दूर जाते हैं तथा उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं[६२]। परमात्मा को प्राप्त करने पर उपासक संशयादि दोषों से निवृत्त हो जाता है। उपासक का प्राप्तव्य भी परब्रह्म ही है।

सभी का आश्रय ब्रह्म :- परमात्मा पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक आदि को धारण करनेवाला ही नहीं है अपितु प्राणधारण करने वाले सभी जीवात्माओं का भी वही ब्रह्म आश्रय है, यह सूत्रकार ने **प्राणभृच्च** शब्द के द्वारा स्पष्ट किया है। प्राण धारण करनेवाले जीवात्मा भी पृथिवी आदि लोकों में निवास करते हैं तथा पृथिवी अन्तरिक्ष आदि लोक परमेश्वर आश्रित टिके हुए हैं। अगले सूत्र में सूत्रकार ने लिखा हैं भेद का उल्लेख होने से भी विदित होता है कि जीव और ब्रह्म भिन्न भिन्न हैं। भेद के कारण पृथिवी आदि को परमात्मा ही धारण करता है

जीवात्मा इन लोकों को धारण नहीं कर सकता है[६३]। उपनिषदों में स्पष्ट ही ईश्वर और जीव का पृथक् उल्लेख है जैसे जीवों ! उस एक अद्वितीय परमात्मा को जानो[६४]। यहा स्पष्ट ही जाननेवाला जीवात्मा पृथक् है और जिस अद्वितीय ब्रह्म को जानना है वह पृथक् है। इसी प्रकार एक-ज्ञ अर्थात् **सर्वज्ञ ब्रह्म** (परमात्मा) है और दूसरा **अज्ञ** अर्थात् अल्पज्ञ जीव है[६५]।

ब्रह्म साक्षी और जीव भोक्ता :- जीव और ब्रह्म की भिन्नता को अधिक स्पष्ट करते हुए ऋषि लिखते हैं कि स्थिति अर्थात् साक्षी बनकर फल का भोग न करते हुए रहना और अदन अर्थात् कर्म के फल का भोग करना ये दोनो क्रियाएं परमात्मा और जीवात्मा के भेद को स्पष्ट करती है[६६]। वेद में स्पष्ट ही आया है कि अनादि काल से एक साथ रहनेवाले दो सखा (ईश्वर और जीव रूपी पक्षी) प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक पक्षी इस वृक्ष का फल खा रहा है तथा दूसरा न खाता हुआ साक्षी बनकर देख रहा है[६७]। यहां पर जीवात्मा कर्म के फल को भोगता है और परमात्मा साक्षी बनकर रहता है। इस प्रमाण से स्पष्ट है कि जीव और ईश्वर की सत्ता पृथक् पृथक् हैं।

ब्रह्म भूमा (महान्) है :- जीव से ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि परमात्मा जीवात्मा से भूमा अर्थात् महान् है[६८]। उस प्रकरण में ऐसा उपदेश दिया है इससे भी ज्ञात होता है कि ब्रह्म जीव से भिन्न है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद और सनत्कुमार की कथा आती है। वहां लिखा है कि नारद वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करने के पश्चात् भी आत्मा को न जानने के कारण अशान्त-बेचैन-परेशान है। वह सनत्कुमार से कहता है कि भगवन् मैं आत्मवित् नहीं हूँ मुझे उपदेश दीजिये। तब सनत्कुमार ने नारद को उपदेश दिया। उस समय उन्होंने कहा कि जो भूमा है वही सुख है[६९]। **भूमा** अर्थात् जो सबसे बड़ा है महान् है वही सुख स्वरूप आनन्द का भण्डार है। अल्प में सुख नहीं अर्थात् अल्पज्ञ जीवात्मा में आनन्द नहीं है, वह आनन्द से रिक्त है इसलिये वह आनन्द प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है।

ब्रह्म शासक :- जीव से ब्रह्म भिन्न है तथा ब्रह्म को उपनिषदों में भूमा (महान्) कहा गया है, ब्रह्म के गुणों के विषय में लिखा है कि पृथिवी से लेकर आकाश पर्यंत सभी लोक लोकान्तरों, तथा सभी पदार्थों को धारण करनेवाला तथा सभी को अनुशासन में रखनेवाला ब्रह्म है[७०]। परमात्मा के अनुशासन में सारा जड़ चेतन जगत् रहता है उसके नियम या व्यवस्था को कोई भी नहीं तोड़ सकता है। वह सबसे महान् प्रशासक है। उसके अनुशासन में सूर्य चन्द्रमा आदि ग्रह

उपग्रह रहते हैं[७१]।

अंगुष्ठमात्र पुरुष :- ब्रह्म के अनुशासन का विवेचन करके सूत्रकार ने ब्रह्म को ईक्षण क्रिया का कर्ता बताकर, उपनिषदों में आये **दहराकाश-हृदयाकाश,** शब्द परमात्मा के लिये आये हैं यह विवेचन अनेक सूत्रों में किया है। आत्मज्ञान प्राप्त करने का किसको अधिकार है या किसको अधिकार नहीं। इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि आत्मविद्या को प्राप्त करने का अधिकार मनुष्य मात्र को है। परमात्मा को जहां भी अंगुष्ठ मात्र कहा है यह हृदय के कारण कहा गया है। हृदय में परमेश्वर विद्यमान हैं, जहां उसका साक्षात्कार होता है, हृदय (अंगूठा भर) अंगुष्ठ मात्र है। इसलिये ब्रह्म को अंगुष्ठ मात्र कहा गया है[७२]। जैसा कि कठोपनिषद् (४-१२-१३) में लिखा है कि अंगुष्ठमात्र पुरुष प्रत्येक जीवात्मा के भीतर व्यापक है, वही सभी भूत भविष्यत् सभी पदार्थों का स्वामी हैं[७३]।

वेद में विरोध नहीं :- वेद ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है इसलिये इसमें विद्यमान ज्ञान सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं है। वेद में आये हुए विविध विषयों के ज्ञान में परस्पर विरोध नहीं है यह स्पष्ट करते हुए बादरायण ने लिखा है कि वेद में विरोध आता है यदि ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि वेद का प्रादुर्भाव परमात्मा से होता है। यह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सिद्ध है[७४]। वेद की प्रामाणिकता के विषय में (पू.मी. १-१-५में) लिखा है कि वेद का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध होने से अन्य प्रामणों की आवश्यकता नहीं हैं। अतः यज्ञ यागादि कर्मों में वेद स्वतः प्रमाण हैं[७५]। वेद ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण, ईश्वर जैसे नित्य है वैसे ही उसका ज्ञान भी नित्य है, इसलिये वेद की नित्यता का उल्लेख अगले सूत्र में सूत्रकार ने किया हैं[७६]।

सृष्टि क्रम पूर्ववत् :- पूर्ववत् सृष्टि (सर्ग) के पश्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् सर्ग यह क्रम सृष्टि का रहता है। जैसे दिन के बाद रात और रात के दिन। इस सृष्टि में जैसे प्राकृतिक पदार्थ हैं उनमें नाम रूप जैसे हैं वैसे ही इस सृष्टि से पहले जो सृष्टि थी उसमे भी वैसे ही थे। वेद का ज्ञान इस समय जैसा है वैसा ही पूर्व सृष्टि में भी था। इसको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि प्रलय के पश्चात् सर्ग अर्थात् सृष्टि के पुनः आरम्भ होने पर वेद और प्राकृतिक जगत् के नाम और रूप समान होने से इस में कोई विरोध नहीं है श्रुति और स्मृति से भी ऐसा ही प्रतीत होता है[७७]। इस विषय में वेद में स्पष्ट ही लिखा है कि जैसे इस समय सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि ग्रह उपग्रह हैं वैसे ही इससे पूर्व की सृष्टि में भी थे[७८]। वेदों के नित्यत्व के बारे में लिखा है कि वेद अनादि और अनन्त होने से नित्य हैं[७९]।

जैसे वर्तमान सृष्टि वेद ज्ञान है इससे पूर्व में विद्यमान सृष्टि में भी वैसा ही वेदों का ज्ञान था अर्थात् इसमें संशोधन परिवर्तन और परिवर्धन नहीं होता हैं। परमात्मा के समान उसका ज्ञान भी नित्य है।

अवस्था भेद से ज़ीव ईश्वर में भिन्नता :- वेद की नित्यता का वर्णन करके पुनः जीव और ब्रह्म की भिन्नता का विवेचन करते हुए लिखा है कि सुषुप्ति अवस्था से तथा उत्क्रान्ति अर्थात् शरीर से जीवात्मा का पृथक् होना (मृत्यु होना) इन अवस्थाओं से प्रतीत होता है किं जीव और ईश्वर भिन्न भिन्न हैं[८०]। जीवात्मा की जागृत स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएं होती है तथा जन्म और मृत्यु भी जीवात्मा की होती हैं। जैसा कि गीता में लिखा है जैसे मनुष्य पुराने कपड़े को छोड़कर नये कपड़े धारण कर लेता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करता है[८१]। ईश्वर की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था तथा जन्म और मृत्यु आदि नहीं होते है इसलिये ईश्वर और जीव पृथक् पृथक् हैं। इसी विषय में एक हेतु देते हुए पुनः लिखा है कि पति (अधिपति) शब्दों के प्रयोग से भी सिद्ध होता है कि परमात्मा जीवात्मा से भिन्न हैं[८२]। अर्थात् पति-अधिपति आदि शब्द परमात्मा के लिये उपनिषदों में प्रयुक्त हुए हैं, जीवात्मा के लिये ये शब्द प्रयुक्त नहीं हुए हैं। अर्थात् परमात्मा सबका अधिपति स्वामी हैं[८३]। इस प्रकार विस्तृत विवेचन करके स्पष्ट किया है कि जीव ईश्वर भिन्न हैं।

प्रकृति और ब्रह्म :- ईश्वर और जीव की भिन्नता का वर्णन करके **चतुर्थ पाद** में प्रकृति के विषय में वर्णन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि कुछ आचार्य अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि यह जगत् स्वभाव के कारण बनता और नष्ट होता है किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। क्यों कि शरीर रूपी रथ का अलंकार के रूप में वर्णन किया है। शास्त्रों में भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है[८४]। (कठोपनिषद् ३-३) में आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ कहा हैं[८५]। शरीर रूपी रथ के द्वारा जीवात्मा (रथी)अपनी यात्रा पूरी करता है। अपनी गन्तव्य स्थान लक्ष्य को प्राप्त करता है। रथ विना रथी के नहीं चलता है जैसे गाड़ी चालक (ड्रायवर) के बिना नहीं चलती है, उसको चलानेवाला कोई चालक अवश्य होना चाहिये, ठीक इसी प्रकार प्रकृति को कार्य रूप में परिणत करनेवाला चेतन तत्व ब्रह्म है, उसके बिना जड़ प्रकृति अपने आप स्वयं परिणत होकर जगत् की रचना नहीं कर सकती है। जैसे शरीर से जीवात्मा निकल जाता है, तब शरीर उठता, बैठता चलता फिरता नहीं है वैसे ही परमात्मा के विना प्रकृति कुछ नहीं कर सकती है। इसलिये

प्रकृति को जगत् का कर्ता मानना ठीक नहीं है।

उपादान कारण प्रकृति :- प्रकृति इस स्थूल जगत् का उपादान कारण है, उपादान कारण अपने कार्य से सूक्ष्म होता है जैसे कपड़े से उसका उपादान कारण धागा (तन्तु) सूक्ष्म है, घड़े से उसका उपादान कारण मिट्टी सूक्ष्म है वैंसे सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति सृष्टि से सूक्ष्म है और सूक्ष्म से उसमें स्थूल जगत् के रूप में परिणत होने की योग्यता है यह भी स्पष्ट किया है[८६]। मुण्ड.(३-१-७) में प्रकृति को सूक्ष्म तथा ब्रह्म को प्रकृति से भी सूक्ष्मतर कहा हैं[८७]।

जड़ चेतन के अधीन :-जड़ प्रकृति अपने आप जगत् को नहीं बना सकती है इस विषय में एक और तर्क देते हुए लिखा है कि प्रकृति परमात्मा के अधीन होने से कार्य (जगत्) रूप परिणत हो जाती हैं[८८]। जड़ वस्तु चेतन के अधीन होती है चेतन उससे जैसा कार्य लेना चाहता है, वह कार्य उससे ले लेता है। ऐसा नहीं होता है कि ड्रायवर (चालक) गाड़ी को आगे ले जा रहा है और गाड़ी आगे न जाकर पीछे चलने लग जाय। गाड़ी में स्वयं चलने की योग्यता नहीं है। इसलिये जैसा चालक (जो चेतन है वह) उसे चलाता है वैसे ही वह चलती है। ऋग्वेद (१०-७२-२) में लिखा है कि सृष्टि के आदि में सभी पदार्थों की उत्पत्ति अनन्त ब्रह्माण्ड के पालक परमात्मा ने इस प्रकार की जैसे एक शिल्पी विविध पदार्थों (कार्यों) की रचना करता हैं। अर्थात् अव्यक्त प्रकृति जगत् के नियन्ता या अधिष्ठाता ब्रह्म के अधीन है इसलिये ब्रह्म प्रकृति से विविध पदार्थों की रचना सृष्टि में करता हैं[८९]। प्रकृति ब्रह्म के अधीन है, परमात्मा जैसा चाहता है वैसा ही प्रकृति से जगत् की रचना करता है, इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि ज्ञातव्य अर्थात् जानने योग्य न कहने से भी यह निश्चय होता हैकि प्रकृति ब्रह्म के अधीन हैं[९०]। प्रकृति ही विश्व रचना का स्वतंत्र कारण है यदि यह सिद्धान्त मान्य होता तो सर्वोच्च जानने योग्य प्रकृति ही होती किन्तु ऐसा उल्लेख नहीं है ब्रह्म ही सर्वोच्च जानने योग्य है ऐसा उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है जैसे उस ब्रह्म को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूट सकता हैं[९१]। ब्रह्म को जाननेवाला परम पद को प्राप्त करता है[९२]। वह ब्रह्म विशेष रूप से जानने योग्य है[९३]। इस प्रकार अनेक स्थलों पर ब्रह्म को ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य लिखा है, इससे निश्चय होता है कि ब्रह्म के अधीन जड़ प्रकृति है।

ईश्वर जीव और प्रकृति :- ब्रह्म-जीव और प्रकृति इन तीनों का विश्लेषण वेदान्त दर्शन में करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि शास्त्रों में इन तीनों (ईश्वर-

जीव और प्रकृति) का वर्णन मिलता है, इससे भी स्पष्ट है कि ये तीनों सूक्ष्म है तथा प्रकृति ब्रह्म के अधीन जगत् रूप में परिणत होती है[९४]। मुण्डक. ३-२-१ में लिखा है कि प्रकृति से परिणत हुई इस सृष्टि रूपी वृक्ष में जीवात्मा भोक्ता बनकर निवास करता है, वह अज्ञान से भोगों में निमग्न होता है। जब ईश्वर का साक्षात् कर लेता है तो उसकी महिमा को जान जाता है तब वह शोकरहित हो जाता है[९५]। कठोपनिषद् में तीनों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि एक ही परमात्मा सब भूतों का नियन्ता है और वही कारण रूप प्रकृति को बहुत प्रकार से कार्यरूप बनाता है। जो धीरपुरुष उसको अपने में अनुभव करते हैं वे निरन्तर सुख को प्राप्त करते हैं[९६]।

उपादान कारण प्रकृति :- प्रथम अध्याय के अन्त में आचार्य काशकृत्स्न के मत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि प्रलय काल में सारा संसार उस ब्रह्म में अवस्थित रहता है ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं[९७]। अर्थात् स्थूल जगत् अपने कारण में विलीन हो जाता है। कारण रूप प्रकृति ब्रह्म में अवस्थित रहती है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है यह प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त के अनुकूल हैं[९८]। न्यायशास्त्र के अनुसार किसी वस्तु को सिद्ध करने के लिये मनुष्य पहले प्रतिज्ञा करता है तथा उसके बाद हेतु (कारण) उदाहरण (दृष्टान्त) आदि देता है। महर्षि व्यास स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रकृति की उपादान कारणता में प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्तादि है इससे निश्चय होता है कि उपादान कारण प्रकृति है।

निमित्त कारण ब्रह्म :- ब्रह्म इस संसार का निमित्त (रचयिता) है यह भी स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि ब्रह्म के संकल्प-ईक्षण से सृष्टि रचना होती है, अध्यात्म शास्त्रों में ब्रह्म जगत् की योनि अर्थात् निमित्त कारण कहा है[९९]। उपनिषद् में ब्रह्म को जगत् का कारण कहा हैं परमात्मा नित्य विभु और सर्वव्यापक तथा जगत् की योनि कारण है उसको धैर्यशाली व्यक्ति अनुभव करते हैं[१००]। आध्यात्मिक ग्रन्थों में लिखित होने के कारण परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण है यह निश्चय होता है[१०१] यह सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। अन्तिम सूत्र में सूत्रकार ने लिखा है कि इस विवेचन से अन्य सब उपनिषद् वाक्यों की व्याख्या भी हो गयी है यह समझ लेना चाहिये[१०२]। अर्थात् उपनिषद् वाक्यों की संगति स्पष्ट की हैं इसी विवेचन से अन्य वाक्यों का भी रहस्य समझ लेना चाहिये।

प्रमाण :

१ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (१-१-१)
२ जन्माद्यस्य यतः ॥ (१-१-२)
३ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वादधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद । (ऋग्वेद १०-१ २९-७)
४ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥ (तैत्ति-उप ३-१-१)
५ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु. ३१-१८)
६ शास्त्रयोनित्वाद् ॥ (१-१-३)
७ पूर्वेषां गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ (योग १-२६)
८ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजु. ३१-७)
९ एतस्य महतों भूतस्य निश्वसितमेवैतद् यद्-ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः .... (बृहदा. २-४-१०)
१० तत्तु समन्वयात् ॥ (१-१-४)
११ भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवा, भद्रं पश्येमाक्षभि र्यत्रजाः (यजु. २५-२१)
१२ जनिकर्तुः प्रकृतिः । (१-४-३०)
१३ ईक्षते र्नाशब्दम् ॥ (१-१-५)
१४ तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय । (६-२-३)
१५ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ (१-१-७)
१६ तमेव विदित्वाति मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजु. ३१-१८)
१७ तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरम् ... (अथर्व. १०-८-४४)
१८ गति सामान्यात् ॥ (१-१-१०)
१९ श्रुतत्वाच्च ॥ (१-१-११)
२० आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ (१-१-१२)
२१ 'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः (तैत्ति. ५-११)
२२ रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । (तैत्ति. २-७)
२३ विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ (१-१-१३)
२४ तंद हेतु व्यपदेशाच्च ॥ (१-१-१४)
२५ मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ (१-१-५)
२६ नेतरोऽपदेशाच्च ॥ (१-१-१७)
२७ कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ (१-१-१८)
२८ इमानि भूतानि आकाशदेव समुत्पद्यन्ते.. (छान्दोग्य. १-९-१)
२९ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ (वेदान्त १-२-१)
३० ईशा वास्यम् इदम् सर्वम् ॥ (यजु. ४०-१)
३१ एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ॥ (बृहदा. ३-८-९)
३२ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथ्वीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋग्वेद ८-४८-२)
३३ विवक्षित गुणोपपत्तेश्च ॥ (१-२-२)
३४ अनुपपत्तेस्तु न शरीरः ॥ (१-२-३)

३५ कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च ॥ (१-२-४)
३६ तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ (६-१२)
३७ स्मृतेश्च ॥ (१-२-६)
३८ प्रशासितारं सर्वेषामणीयां समणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् ॥ (१२-१-२२)
३९ ११ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । (गीता १८-६१)
४० विशेषणाच्च ॥ (१-२-१२)
४१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं तु रथमेव च । (३-३)
४२ देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । (गीता २-१३)
४३ अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम् ॥ (कठ. ३-१५)
४४ द्वा सुपर्णा सयुजा...तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नयोऽभिचाकशीति ॥ (ऋग्वेद २-३-१७)
४५ अन्तर उपपत्तेः ॥ (१-२-१३)
४६ अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ (१-२-१७)
४७ अन्तर्याम्याधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ (१-२-१८)
४८ यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यां अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम् ।
४९ अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः ॥ (१-२-२१)
५० यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रंतदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यदभूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ (मुण्ड. १-१-६)
५१ विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ (१-२-२२)
५२ दिव्यो ह्यमूर्त...अक्षरात् परतः परः ॥ (मुण्ड. २-२)
५३ रूपोपन्यासाच्च ॥ (१-२-२३)
५४ यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरं,
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (अथर्व)
५५ अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे...
पद्भ्यां पृथिवी... सर्व भूतान्तरात्मा ॥ (मुण्ड. २-४)
५६ द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ (१-३-१)
५७ येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वःस्तभितं येन नाकः ।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देऽवाय हविषा विधेम ॥ (यजु. ३२-६)
५८ यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः तमेवैकं जानथ ।
आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः । (मुण्डकपोनिषद २-२-५)
५९ नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च ॥ (१-३-३)
६० मुक्तोपसृप्यव्शपदेशाच्च ॥ (१-३-२)
६१ तमेवैकं जानथ आत्मानम् । (मुण्ड. २-२५)
६२ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
६३ भेदव्यपदेशाच्च ॥ (१-३-४)
६४ तमेवैकं जानथ आत्मनम् ॥ (मु. २-२-५)
६५ ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ...॥ (श्वेता १-९)
६६ स्थित्यदनाभ्यां च ॥ (१-३-६)
६७ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । (ऋक. २-३-१७)

६८ भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ (१-३-७)
६९ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति,
भूमैव सुखम् भूमा त्वैव विजिज्ञासितव्य इति...॥ (छान्दो. ७-२३-१)
७० अक्षरमम्बरान्तधृतेः । सा च प्रशासनात् ॥ (१-३-९,१०)
७१ एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। (बृहदा. ३-८-९)
७२ हृद्यपेक्षया तु मनुष्यधिकारत्वात् ॥ (१-३-२४)
७३ अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनितिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥
७४ शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ (१-३-२७)
७५ औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । (पू. मी. १-१-५)
७६ अत एव च नित्यत्वम् ॥ (१-३-२९)
७७ समान नाम रूप त्वाच्चावृत्तावप्य विरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ (१-३-२९)
७८ सूर्याचन्द्रामसौ धाता यथा पूर्वूकल्पयत् । (ऋ.८-४८-२)
७९ अनादि निधाना नित्या वागुत्सृष्टा स्वायं-भुवा... । (मनु. १-२१)
८० सुषुत्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ (१-३-४१)
८१ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (गीता-२-२२)
८२ पत्यादि शब्देभ्यः ॥ (१-३-४२)
८३ सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः ॥ (बृहदा. ४-४-२२)
८४ अनुमानिक मप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपक विन्यस्त गृहीते दर्शइति च ॥ (१-४-१)
८५ आत्मानं रथिन विद्धि शरीरं तु रथमेव च। (कठोपनिषद्)
८६ सूक्ष्म तु तदर्हत्वात् ॥ (१-४-२)
८७ सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति
८८ तदधीन त्वादर्थवत् ॥ (१-४-३)
८९ ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधतम् ।
देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायत ॥ (ऋक् १०-७२-२)
९० ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ (१-४-४)
९१ तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति ॥ (यजु. ३१-१८)
९२ ब्रह्मविदाप्नोति परम् ॥ (तैत्ति. २-१)
९३ स आत्मा स विज्ञेयः ॥ (मुण्डक ७)
९४ त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ (११-४-६)
९५ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्रोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः ॥
९६ एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखंशाश्वतं नेतरेषाम् ॥ (कठो. ५-१२)
९७ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ (१-४-२२)
९८ प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ॥ (१-४-२३)
९९ अभिध्योपदेशाच्च। योनिश्च गीयते ॥ (१-४-२४,२७)
१०० नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
(मुण्ड.१-१-६)
१०१ साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ (१-४-२५)
१०२ एतेन सर्वे व्याख्याताः ॥ (१-४-२८)

वेदान्त दर्शन

द्वितीय अध्याय

प्रथम अध्याय में ब्रह्म की जिज्ञासा, ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला है। वह प्रकृति और जीवात्मा से पृथक् है। यह विवेचन करके स्पष्ट किया है कि **ईश्वर, जीव** और **प्रकृति** इन तीन अनादि तत्त्वों की यथार्थ सत्ता है। इसे त्रैतवाद कहा जाता है जो वेदादि शास्त्र सम्मत हैं।

अध्याय परिचय :- द्वितीय अध्याय में चार पाद हैं तथा इस अध्याय में १५७ सूत्र हैं। वेदान्त दर्शन में वर्णित ब्रह्मविषयक सिद्धान्तों और प्रमाणों का स्मृति तथा अन्य शास्त्रों में लिखित सिद्धान्तों से कोई विरोध नही हैं तथा वैदिक वाङ्मय में सृष्टि (जगत्) के बनने आदि प्रक्रिया का वर्णन मिलता है उनमें आपस में कोई विरोध नहीं है अपितु समानता दृष्टिगोचर होती है यह विवेचन इस अध्याय में किया गया है। इस अध्याय के प्रारंभ में ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है यह स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि अन्य तर्क और प्रमाणों के न मिलने से विदित होता है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है[१]। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है क्योंकि विना चेतन नियन्ता के विशाल ब्रह्माण्ड की रचना नहीं हो सकती हैं। ब्रह्म इसका बनानेवाला है। वह उपादान कारण नहीं है तथा निमित्त और उपादान कारण अर्थात् ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी नहीं है।

ब्रह्म उपादान कारण नहीं :- ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है। इस विषय में अगले सूत्र में लिखा है कि विलक्षण होने से भी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है। कार्य और (उपादान) कारण में समानता होती है मिट्टी से घड़ा बनता है या तन्तुओं (धागे) से कपड़ा बनता है। मिट्टी और घड़े में, तन्तु और कपड़े में समानता होती है। कारण और कार्य में समान धर्म होते हैं। यदि ब्रह्म से जगत् बना होता तो सच्चिदानंद ब्रह्म के सर्वज्ञ-चेतनत्व,आनन्दादि गुण भी जगत् (संसार) में होने चाहिये थे किन्तु संसार में ये गुण नहीं दीखते हैं इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हैं। अर्थात् इस विषय में शब्द प्रमाण भी मिलता हैं[२]।

विकार और निर्विकार :- ब्रह्म और प्रकृति की भिन्नता वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रकृति विकारवाली है, उसमें परिवर्तन होता रहता है। ब्रह्म निर्विकार

है वह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला है इसमें कोई परिवर्तन या विकृति नहीं होती हैं[३]। उपनिषद् के इस प्रमाण से भी जड़ और चेतन की भिन्नता तथा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है यह स्पष्ट होता है।

प्रकृति (माया) ब्रह्म मायावी :- ब्रह्म और प्रकृति दोनों ही भिन्न भिन्न कारण हैं अर्थात् ब्रह्म निमित्त कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है यह अन्य शास्त्रीय प्रमाणों से भी स्पष्ट है यह सूत्रकार ने उल्लेख किया हैं[४]। उपनिषदों में प्रकृति उपादान कारण है और ब्रह्म निमित्त कारण है यह वर्णन अनेक स्थलों पर आता हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-१०) में वर्णन है कि माया-प्रकृति उपादान कारण है और उसका नियन्ता ब्रह्म निमित्त कारण हैं[५]। यहां पर स्पष्ट ही प्रकृति (माया) और ब्रह्म का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है। उपनिषद् में स्पष्ट रूप से माया शब्द प्रकृति के लिये आया है और प्रकृति को नियन्त्रण में रखनेवाले ब्रह्म के लिये मायावी शब्द का प्रयोग किया है। माया शब्द अज्ञान या अविद्या के लिये शास्त्रों में प्रयुक्त नहीं हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी का नियन्ता है, पृथिवी जिसको नहीं जानती है वह पृथिवी को जानता है पृथिवी जिसका शरीर हैं[६]। यहां पर भी यही स्पष्ट लिखा है कि पृथिवी आदि जड़ पदार्थों का नियन्ता चेतन (ब्रह्म) परमात्मा है।

अभाव से भाव नहीं :- ब्रह्म को निमित्त कारण तथा प्रकृति को जगत् का उपादान कारण स्पष्ट करने के पश्चात् यह विवेचन किया गया है कि यह संसार असत् अभाव अर्थात् शून्य से नहीं होता है। गीता में भी ऐसा ही लिखा है कि असत् अभाव से भाव (पदार्थों का अस्तित्व) नहीं होता है और भाव से अभाव (असत्) भी नहीं होता हैं[७]। सृष्टि बनने से पहले प्रकृति का असत् (अभाव) नहीं था। यदि कहीं पर यह वर्णन आता है कि सृष्टि बनने से पहले असत् (अभाव) था। जैसा कि छान्दो. ६-२-१ में लिखा हैं[८] किन्तु वहां पर असत् का अर्थ अभाव या शून्य नहीं है अपितु प्रलयावस्था में प्रकृति की कार्यावस्था का निषेध है अर्थात् जैसे सृष्टि इस समय है वैसी प्रलयावस्था में नहीं थी, उस समय सृष्टि अपनी कारणावस्था (प्रकृतिरूप) में थी यही असत् शब्द का वहां तात्पर्य है यह सूत्रकार ने सूत्र द्वारा स्पष्ट किया हैं[९]।

सत् (भाव) से सत् (भाव) :- प्रलयावस्था में यह संसार अपने कारण रूप में था इस विषय को अनेक सूत्रों द्वारा सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। इस विषय में लिखा है कि कारण के होने पर ही कार्य की उपलब्धि होती है। यदि इस समय संसार विद्यमान है तो निश्चित रूप से कारणावस्था में भी विद्यमान था[१०]।

यदि कार्य का कारणावस्था में भी असत्-अभाव रहे तो जैसे तिलों से तैल निकलता है वैसे ही बालू (रेत) से भी तैल निकल जाना चाहिये, किन्तु रेत से तैल नहीं निकलता है इससे स्पष्ट होता है कि कार्य कारण रूप में भी विद्यमान रहता है। भाव रूप कारण में कार्य की सत्ता अर्थात् अस्तित्व विद्यमान रहता है यह स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि कार्य की सत्ता कारण में रहती हैं[११]।

असत् और सत् :- उपनिषदों में कार्य की कारणावस्था को 'असत्' (अभाव) कहा है इससे कहीं यह सन्देह न हो जाय कि कार्य का कारणावस्था में अभाव होता है, इसका निराकरण सूत्रकार ने (२-१-७) में किया हैं[१२] कि जगत् के उपदान कारण को असत् (अर्थात् अभाव) कहना ठीक नहीं है क्योंकि असत् (अभाव) से सत् (भाव) नहीं होता है मिट्टी या बालू (रेत) में तैल नहीं हैं इसलिये उसको पीसकर भी तैल नहीं निकलता हैं तिलों को पीसकर ही तैल निकलता है क्योंकि तिलों में तैल रहता है। पुनः सन्देह को दूर करते हुए लिखा है कि असत् का उपदेश करने से कार्य कारण अवस्था में सत् नहीं हो सकता है यदि ऐसा कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि कार्य की सत्ता कारणावस्था में पायी जाती है। यह इस प्रसंग में अगले वाक्यों में स्पष्ट है[१३]। अर्थात् तैत्तिरीय उपनिषद् में जहां पर यह उल्लेख है कि **असदेवेदमग्र आसीत्....** वहीं पर आगे लिखा है कि **"तत्सदासीत्"**। इस प्रकरण से विदित होता है कि उपनिषत्कार समझाते हैं कि प्रलयावस्था में कार्य अपने कारण रूप में रहता है। इसलिये उसे असत् कहा, किन्तु कोई असत् का अर्थ कहीं अभाव ही न समझ ले इसलिये स्पष्ट करते हुए अगले वाक्य में लिखा है कि तब कार्य कारण रूप में सत् था अर्थात् भावरूप में था। भाव रूप कारण से ही कार्य (भाव) उत्पन्न होता है। युक्ति और शब्द प्रमाण से भी स्पष्ट है कि कारण और कार्य दोनों का अस्तित्व है, दोनों अभिन्न हैं[१४]। अर्थात् उपादान कारण और उससे बने हुए कार्य में अभिन्नता-समानता होती है। मिट्टी से घड़ा और तन्तु से वस्त्र बनता है, मिट्टी और घड़े में अभिन्नता है, जो गुण मिट्टी में हैं वही गुण घड़े में हैं। यही कारण से कार्य की अभिन्नता है। इस विषय में उदाहरण देते हुए लिखा है कि जैसे कपड़े में तन्तुओं (धागे) के गुण रहते हैं, कपड़ा अपने धागों (तन्तुओं) से पृथक् कुछ भी नहीं होता है वैसे ही मूल प्रकृति के सत्व-रज-तम गुण कार्य जगत् में रहते हैं[१५]।

दीखने और देखनेवाला भिन्न :- उपादान कारण प्रकृति और उससे बने हुए जगत् की समानता का वर्णन करके जीव और ब्रह्म की भिन्नता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भेद का निर्देश होने से ब्रह्म जीव से अधिक भिन्न

हैं[१६]। अर्थात् जीव से ब्रह्म अधिक है, बड़ा हैं,भिन्न है। उपनिषदों में लिखा है कि परमात्मा ज्ञान चक्षुओं से देखने योग्य, श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य है[१७]। देखने योग्य परमात्मा पृथक् है और देखनेवाला जीवात्मा पृथक् है।

विपरीत गुणों से भिन्नता का बोध :- समान गुण दो पदार्थों को पृथक् पृथक् नहीं कर पाते हैं किन्तु विपरीत गुण दों पदार्थों को एक दूसरे से पृथक् पृथक् कर देते हैं। जैसे नमक भी सफेद होता है और शक्कर भी सफेद होती है। इनके सफेद गुणों को देखकर कोई भी व्यक्ति इनको एक मान लेगा किन्तु नमक खारा होता है और शक्कर मीठी होती है इन विरोधी गुणों से इन दोनों को पृथक् पृथक् समझा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी चेतन है और जीव भी चेतन है इस चेतनता रूपी धर्म के कारण दोनों को एक नहीं कह सकते हैं, क्योंकि दोनों के चेतन होने पर भी ब्रह्म आनन्द स्वरूप है जब कि जीवात्मा में यह गुण नहीं है। जीवात्मा ब्रह्म से आनन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार ब्रह्म से जीव भिन्न है। इस विषय में उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि अश्म-पत्थर आदि के समान जीव ब्रह्म की एकता नहीं हो सकती हैं[१८]। अर्थात् जिस प्रकार पत्थर काष्ठ (लकड़ी) आदि जड़ पदार्थों की सत्ता (अस्तित्व) है और सत्ता (अस्तित्व) जीव और ब्रह्म की भी है। तो सत्ता मात्र होने से जैसे पत्थर ब्रह्म नहीं हो सकता है वैसे ही चेतन होने से जीव ब्रह्म नहीं हो सकता है। प्रत्येक पदार्थ की भिन्नता उसके विरोधी गुणों से स्पष्ट होती है। केवल समान धर्मों को लेकर ही पदार्थों को लेकर ही दो पदार्थों को एक नहीं माना जा सकता है। अतः जीव और ब्रह्म विरोधी गुणों के कारण दोनों भिन्न भिन्न हैं।

सबका नियामक ब्रह्म :- ईश्वर जीव और प्रकृति की भिन्नता का तथा प्रकृति जगत् का उपादान कारण है यह विवेचन करके यह वर्णन किया है कि परमात्मा में ऐसी अद्भुत शक्तियां और गुण हैं जिनके कारण वह निरवयव और निराकार होता हुआ इस विशाल सृष्टि की रचना कर लेता हैं। वह सर्व शक्तिमान् है ऐसा शास्त्रों में उल्लेख हैं[१९]। ब्रह्म की महत्ता का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि परमात्मा के अनुशासन् (आज्ञा) में सूर्य चन्द्रमा स्थिर हैं अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड परमात्मा की व्यवस्था में चल रहा हैं[२०]। सारे संसार को अपने नियमों में रखनेवाले परमेश्वर को परिश्रम नहीं करना पड़ता है। जैसे आंख की पलक को खोलने और बन्द करने में मनुष्य को श्रम नहीं करना पड़ता है वह अनायास ही होता है वैसे ही विश्व को ब्रह्म अपने नियमों में रखता है उसे श्रम नहीं करना पड़ता ऐसा वेद में भी लिखा है[२१]। उपनिषदों में भी इस विषय में लिखा कि

जगत् बनाने की क्रिया, उसका ज्ञान तथा व्यवस्था में रखने की शक्ति परमेश्वर में स्वाभाविक हैं[२२]।

निराकार ब्रह्म :- परमात्मा निराकार है और जगत् का निमित्त कारण है ऐसा वेद में भी उल्लेख है यह सूत्रकार ने सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है[२३]। निराकार होते हुए ब्रह्म जगत् की रचना करता है। उसको हाथ पैरादि शारीरिक अंगों की आवश्यकता नहीं होती है। इस विषय में लिखा है कि ब्रह्म मन इन्द्रिय आदि करण (साधनों) से रहित है इसलिये जगत् का निर्माण नहीं कर सकता है यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं क्योंकि इस विषय में समाधान कर दियां हैं[२४]। अर्थात् २-१-२७,२८ सूत्रों में स्पष्ट किया है कि वह निराकार है और उसमें अद्भुत शक्ति है जिससे वह जगत् की रचना विना शरीर के करता है। उपनिषदों में भी लिखा है परमात्मा विना हाथों के ग्रहण करता है, विना पैरों के वह गति करता है, वह आंखो के विना देखता और कानों के विना भी सुनता है[२५]।

संसार में विषमता :- निराकार सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ने जगत् की रचना की, वह इस संसार का निमित्त कारण है तथा सर्वशक्तिमान् है, सब उसके अनुशासन का पालन कर रहे हैं किन्तु इस संसार में विषमता और निर्दयता दिखाई देती है। कोई व्यक्ति निर्धन है तो कोई धनवान् है, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख है यह भिन्नता ब्रह्म ने क्यों रखी ? कोई व्यक्ति निरन्तर सुखों का भोग कर रहा है तो कोई भयंकर कष्टों को भोग रहा है। भयानक दुःखों को भोगते हुए दुःखी व्यक्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि ऐसा भयानक व निर्दयता भरा संसार दयालु-परमात्मा ने बनाया है या इसका बनानेवाला भी कोई निर्दयी है। इस दोष का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि संसार में विषमता और निर्दयता को देखकर यह दोष ब्रह्म को नहीं दिया जा सकता है। जो भी विषमता संसार में दीख रही है वह सब कर्मों के कारण है, कर्मों का फल मनुष्य भोगता है। यह संसार कर्म करने और उसका फल भोगने के लिये है[२६]। मनुष्य शुभ कर्मों का फल सुख भोगता है और अशुभ कर्मों का फल दुःख भोगता है। इसलिये सुख दुःखादि जीवात्मा के किये हुए कर्मों का फल है। अतः यह दोष परमात्मा का नहीं है[२७]। उपनिषदों में लिखा है कि जीवात्मा पुण्य कर्म से सुखी और पाप कर्म से दुःखी होता है[२८]। अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के कारण जीवात्मा सुख दुःख भोगता है जिससे यह विषमता दीखती है, उसमें ब्रह्म कारण नहीं है, अपितु कर्म ही कारण है।

चेतन ब्रह्म के कारण जड़ (प्रकृति) में गति (क्रिया) :- प्रकृति जड़ है तथा जीव और ब्रह्म चेतन है। चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति

अपने आप स्वयं जगत् स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है[२९]। अर्थात् जड़ पदार्थ में स्वयं परिवर्तन नहीं हो सकता है, क्योंकि जड़ पदार्थ में प्रवृत्ति अर्थात् क्रिया नहीं होती है[३०]। इसलिये यह अनुमान करना ठीक नहीं है। गति या क्रिया चेतन का धर्म है। जड़ पदार्थ का धर्म या गुण गति नहीं है। जड़ पदार्थ की गति का निषेध करता हुआ सूत्रकार अगले सूत्र में लिखता है कि यदि कोई कहे की दूध और पानी जड़ है और इनमें गति होती है इसी प्रकार जड़ प्रकृति में (गति) क्रिया हो जायेगी तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहां भी चेतन के कारण ही दूध और पानी में गति होती है[३१]। अर्थात् गाय के स्तनों में दूध बछड़े को पिलाने के लिये आता है। गाय के शरीर में चेतन जीवात्मा है उसी की इच्छा के कारण दूध की प्रवृत्ति होती है। जीवित गाय ही दूध देती है, मरी हुई नहीं। अर्थात् दूध की प्रवृत्ति का प्रमुख कारण गाय के शरीर में चेतन जीवात्मा है। अतः जड़ पदार्थ (दूध) में प्रवृत्ति (क्रिया) चेतन के कारण होती है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति में क्रिया चेतन ब्रह्म के कारण ही होती है।

जड़ में विपरीत गति नहीं :- जड़ जगत् का निमित्त कारण चेतन ब्रह्म ही है, जड़ प्रकृति स्वयं जगत् रूप में परिवर्तित नहीं सकती है। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने पुनः लिखा है कि यदि प्रकृति में गति देनेवाला अर्थात् क्रिया करानेवाला चेतन तत्त्व न हो तो जड़ पदार्थ में विपरीत गति नहीं हो सकती। जड़ पदार्थ की विशेषता है कि जिधर उसको गति दे दो उसी तरफ उस पदार्थ की गति होती रहती है वह स्वयं रूकती नहीं है तथा उसमें विपरीत गति भी नहीं होती है। जैसे किसी ने पंखे का बटन (ऑन) कर (दबा) दिया तो पंखा चलता ही रहता है, वह अपने आप नहीं रूकता या उलटा नहीं चलता या रूक रूक कर नहीं चलता है। इसी प्रकार यदि जड़ प्रकृति स्वयं जगत् रूप में परिवर्तित होती तो फिर जगत् (सृष्टि) में अपने आप प्रलय नहीं हो सकता है क्योंकि जिसका बनने का स्वभाव है वह स्वयं नष्ट नहीं होता या रूकता नहीं है किन्तु जगत् का निर्माण भी होता है, प्रलय भी होता है, कुछ समय स्थिर भी रहता है इससे सिद्ध होता है कि बनना और नष्ट होना या स्थिर रहना यह विपरीतता स्पष्ट करती है कि चेतन ब्रह्म ही जड़ प्रकृति को जगत् रूप में परिवर्तित करनेवाला, पालन और प्रलय करनेवाला है[३२]।

जड़ तृण (घास) स्वयं दूध रूप में परिवर्तित नहीं :- गाय घास खाती है और उसके शरीर में दूध बनता है, इसके द्वारा यदि कोई यह कहे कि जैसे जड़ तृण (घास) स्वयं दूध के रूप में परिवर्तित हो जाता है वैसे ही जड़ प्रकृति

स्वयं जगत् रूप में परिवर्तित हो जाती है तो इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि तृण (घास) तो बैल भी खाता है किन्तु उसके शरीर में घास से दूध नहीं बनता हैं। यह तो ईश्वर की अद्भुत सृष्टि है कि जब तक गाय के शरीर में चेतन जीवात्मा रहता है तब उससे बछड़ा या बछड़ी होते हैं तब उनके भरण पोषण के लिये गाय के शरीर में घास खाने पर दूध बनता है। वह दूध भी हमेशा (जब बछड़ा-बछड़ी नहीं होते तब) नहीं बनता है। इसलिये यह तर्क ठीक नहीं है कि जैसे तृण (घास) दूध के रूप में परिवर्तित होता है वैसे ही जड़ प्रकृति, जगत् रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह विवेचन सूत्रकार ने सूत्र द्वारा किया है[३३]।

संसार का अभाव नहीं :- जड़ प्रकृति स्वयं परिवर्तित नहीं होती है यह विवेचन करने के बाद सूत्रकार ने लिखा है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि कहीं भी अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं देखी जाती हैं[३४]। यदि कोई कहे कि सारे संसार का ही अभाव है अर्थात् यह जगत् कुछ भी नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। यह इसलिये ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उपलब्ध है, संसार विद्यमान है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संसार का अस्तित्व सिद्ध है[३५]। जो लोग इस संसार को स्वप्न के समान बतलाते हैं उनको भी यथार्थवाला संसार अन्यत्र मानना पड़ेगा क्योंकि जागृत अवस्था के अनुसार ही स्वप्न आते हैं। यदि जागृत अवस्था में किसी ने कभी भी कहीं पर भी सांप नहीं देखा तो स्वप्न में भी उसको सांप नहीं दीखता और रस्सी को देखकर सांप का भ्रम भी नहीं हो सकता हैं।

निराकार और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म :- जगत् का निर्माता ब्रह्म निराकार और सर्वशक्तिमान् है यह इस अध्याय में वर्णन किया है। ब्रह्म साकार नहीं हो सकता है। यह विश्लेषण द्वितीय पाद के कुछ सूत्रों में सूत्रकार ने किया है। वहां लिखा है कि असंगत और युक्तिशून्य होने से जगत् पति ब्रह्म का शरीर होना ठीक नहीं है[३६]। अर्थात् विश्व के नियन्ता का शरीर नहीं है अर्थात् वह शरीर अर्थात् शरीरवाला जब हो जायेगा तब उसका स्वामित्व-नियन्तृत्व समाप्त हो जायेगा क्योंकि ईश्वर स्वयं शरीर और इन्द्रियों के अधीन हो जायेगा इनके सहयोग के विना कोई भी कार्य नहीं करेगा, कर सकेगा। जो दूसरे पर अश्रित हो वह ईश्वर कैसे हो सकता है। इसी विषय को अगले सूत्र में लिखा है कि **साकार ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता** क्योंकि यदि वह साकार होगा तो उसका आश्रय ठहरने के लिये कोई साकार पदार्थ चाहिये। इस प्रकार वह किसी दूसरे के अश्रित होगा। जिसका आश्रय अन्य साकार पदार्थ होगा तो वह सारे विश्व का

अधिष्ठाता नियन्ता आश्रय या आधार कैसे हो सकता है अतः ईश्वर साकार नहीं हैं। वेद में भी परमात्मा को विश्व का आधार बताया गया है। अतः निराकार ईश्वर ही विश्व का आधार हैं[३८]।

शरीर और इन्द्रियों से रहित ईश्वर :- ईश्वर के शरीर और इन्द्रियादि का निषेध करते हुए लिखा है कि ईश्वर को इन्द्रियवाला मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि इन्द्रियवाला ईश्वर होगा तो भोगादि का प्रसंग प्राप्त होगा[३९]। यदि ईश्वर के इन्द्रियां हो तो वह उनसे इन्द्रियों के विषयों का भोग करेगा। भोग करने के कारण 'भोक्ता' कहलायेगा, जब कि शास्त्रों में उसे अभोक्ता कहा है, भोक्ता तो जीवात्मा है[४०]। यदि ईश्वर का आकार शरीरादि होगा तो वह अन्तवाला अर्थात् विनाशी होगा और आकार के कारण अल्पज्ञ हो जायेगा, सर्वज्ञ नहीं रह सकता[४१]। यह दोष भी ईश्वर में आयेगा। अर्थात् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अजर अमर **ब्रह्म** अल्पज्ञ-अल्पशक्तिमान्-विनाशी हो जायेगा। इस विषय में पुनः लिखा हैं कि परमात्मा की उत्पत्ति असम्भव होने से वह इन्द्रियोंवाला नहीं हो सकता हैं[४२]। परमात्मा संसार का बनानेवाला कर्ता है इसलिये उसके विषय में लिखा है कि उस विश्व निर्माता कर्ता का कोई करण साधन नहीं है[४३]। अर्थात् परमात्मा साधनों (इन्द्रियों के) विना ही इस जगत् की रचना करता है (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६-८) में लिखा है कि उसका कोई कारण (साधन) या कर्ता नहीं है, उसके समान या उससे अधिक भी नहीं है। उसका ज्ञान-बल-क्रिया स्वाभाविक है[४४]।

पंचस्थूल भूत :- परमात्मा साकार नहीं है इस विषय को अनेक सूत्रों से स्पष्ट करके स्थूल भूतों का वर्णन किया है पृथ्वी-जल-अग्नि वायु और आकाश ये पंचस्थूल भूत हैं। जो भी पदार्थ या वस्तु (निर्मित) बनी हुई होती है उसका विभाग होता है अर्थात् सभी वस्तुएं अलग अलग है वैसे ही पृथ्वी-जल-अग्नि आदि पृथक् पृथक् हैं इससे ज्ञात होता हैं कि ये परमेश्वर कृत हैं, बनायी हुई है, प्रकृति से निर्मित है[४५]। इनके बनने का क्रम आकाश-वायु-अग्नि, जल और पृथ्वी है। प्रलय के समय ये विपरीत क्रम से अपने कारणों में विलीन होते हैं जैसे पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में इस क्रम से प्रलय होता है[४६]।

जीवात्मा का जन्म और मृत्यु नहीं :- पंच स्थूल भूतों का वर्णन करने के पश्चात् जीव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जीवात्मा का जन्म और मृत्यु आदि नहीं होता है, वह नित्य अनादि है। जहां कहीं भी जन्म और मृत्यु का

वर्णन आता है, वह शरीर के कारण है, शरीर के साथ जीवात्मा का संयोग होने से जन्म और शरीर से जीवात्मा का वियोग होने को मृत्यु कहते हैं। वस्तुतः जीवात्मा कभी पैदा नहीं होता और नहीं मरता है[४७]। इसी को छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि जीव से रहित होकर शरीर नष्ट हो जाता है पर शरीर नाश से जीव नाश कदापि नहीं होता है[४८]। जीवात्मा उत्पन्न होता है या मरता है इस विषय में कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है[४९]। अर्थात् वेदों में जीवात्मा के जन्म मृत्यु विषयक कोई प्रमाण न मिलने से स्पष्ट होता है कि जीवात्मा नित्य है।

जीव और प्रकृति में भेद :- जीवात्मा के नित्यत्व का वर्णन करके, जीवात्मा की सत्ता मात्र ही होती है, ऐसा नहीं है। सत्ता या अस्तित्व तो प्रकृति (जड़ पदार्थों) का भी है किन्तु जड़ पदार्थ से जीवात्मा की भिन्नता का वर्णन करते हुए लिखा है कि जीवात्मा 'ज्ञाता' अर्थात् जाननेवाला, अनुभव करनेवाला है[४९]। अनुभव करना चेतन का धर्म हैं, जड़ पदार्थ अपनी सत्ता का अनुभव नहीं करता हैं, यही तो जड़ और चेतन में भेद है। जीवात्मा ज्ञाता है इस विषय में प्रमाण भी मिलते हैं जैसे छान्दोग्य उपनिषद् ८-१२-४ में लिखा है कि जो यह जानता है कि मैं गन्ध को अनुभव करता हूँ वह आत्मा है[५१]।

जीवात्मा अणु परमात्मा विभु :- जीवात्मा-अणु (सूक्ष्म) परिच्छिन्न है या विभु (व्यापक) है इस को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जीवात्मा अणु अर्थात् परिच्छिन्न सूक्ष्म है क्योंकि इसमें उत्क्रान्ति अर्थात् एक शरीर से निकालना गति-अन्यत्र जाना और आगति-आना ये गुण पाये जाते हैं[५२]। अर्थात् जीवात्मा एक शरीर को छोड़ता और दूसरे शरीर को प्राप्त करता है[५३]। एक शरीर को छोड़ना और दूसरे शरीर में जाना यह कार्य विभु (व्यापक) तत्व में नहीं हो सकता है। अतः जीवात्मा (विभु-व्यापक) नहीं, परिच्छिन्न-सूक्ष्म है। जीवात्मा को शास्त्रों में अणु लिखा है। जैसा कि मुण्डक उपनिषद् ३-१-८ में लिखा है कि जिसके आश्रित होकर पांच प्रकार के प्राण चेष्टा करते हैं वह शुद्ध चित्त से जाना जाता है वह आत्मा अणु है[५४]। इस प्रसंग में सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि जहां कहीं भी शब्द आत्मा के लिये आया हो वहां पर ब्रह्म-परमात्मा के लिये आया है। जीवात्मा के लिये नहीं[५५]। प्रसंग में आत्मा को विभु कहां है। ब्रह्म सूत्रकार यहां पर स्पष्ट करते हैं कि उपनिषद् के उस प्रसंग में आत्मा से जीवात्मा का विवेचन नहीं अपितु परमात्मा का विवेचन किया गया है।

जीवात्मा कर्ता :- जीवात्मा नित्य है, परिच्छिन्न (सूक्ष्म) है तथा ज्ञाता अनुभव करनेवाला चेतन है। इतना ही नहीं अपितु जीवात्मा कर्ता भी है ऐसा शास्त्रों के प्रमाणों से स्पष्ट है[५६]। वेदादि शास्त्रों में विधि, निषेध वाक्य मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जीवात्मा कर्ता है। यजुर्वेद में लिखा है कि कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा कर[५७]। यहां पर कर्म करने का उपदेश जीवात्मा को ही दिया गया है। स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करें[५८]। मुमुक्षु ब्रह्म की उपासना करें[५९]। गाय की हिंसा मत करों[६०] यह उपदेश यजुर्वेद में दिया है इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि जीवात्मा कर्ता है। क्योंकि ये वाक्य प्रकृति या प्रकृति से बने हुए जड़ पदार्थों के लिये प्रयुक्त नहीं किये गये हैं, क्योंकि जड़ पदार्थ को अपने अस्तित्व का भी बोध नहीं है तथा ब्रह्म परमात्मा के लिये भी ये वाक्य नहीं हो सकते हैं क्योंकि ब्रह्म पूर्ण हैं। इसलिये वेदादि शास्त्रों में विधि अर्थात् करने योग्य तथा निषेध न करने योग्य वाक्य जीवात्मा के लिए हैं अतः इन वाक्यों से स्पष्ट हैं कि जीवात्मा कर्ता है।

इन्द्रियां और प्राण :- जीवात्मा का विस्तृत विवेचन करके जीवात्मा के करण-साधन इन्द्रियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियां सूक्ष्म हैं[६१]। इन्द्रियों को गोलकों (इनके स्थानों) को देखकर कोई इन्द्रियों को स्थूल या गोलक रूप में ही न समझ ले, इसलिये स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिन साधनों से जीवात्मा देखता, सुनता या सूंघता है वे भी सूक्ष्म हैं। इन्द्रियों में प्राण सबसे श्रेष्ठ हैं[६२]। क्योंकि जब तक प्राण शरीर में रहते हैं तब तक सभी इन्द्रियाँ भी रहती हैं, जीवात्मा प्राण के साथ जब शरीर से निकलता है तो इन्द्रियाँ भी निकल जाती हैं ऐसी कथा छान्दोग्य उपनिषद् में आयी है जिससे प्राणों की श्रेष्ठता का ज्ञान होता है।

पार्थिव शरीर :- अध्याय के अन्त में शरीर के विषय में लिखा है कि स्थूल शरीर पंच-भूतों से बना हुआ होने के कारण पञ्चभौतिक शरीर होने पर भी पृथ्वी का अंश अधिक होने के कारण इस शरीर को पार्थिव शरीर कहते हैं[६३]। पृथ्वी की प्रधानता जिस शरीर में होती हैं उसे पार्थिव शरीर कहते हैं। इसी प्रकार जल तत्त्व की प्रधानता जिस शरीर में होती हैं उसे जलीय शरीर कहा जाता हैं।

प्रमाण :

१ इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ (२-१-२)
२ न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ (२-१-४)
३ क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः....। (श्वेता १-१०)
४ दृश्यते तु। (२-१-६)
५ मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायाविनं तु महेश्वरम्। (श्वेता. ४-१०)
६ यःपृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम् ॥ (बृह. ३-७-१)
७ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता २-१६)
८ असदेव सोम्येदमग्र आसीत।
९ असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ २-१-७)
१० भावेश्चोपलब्धेः ॥ (२-१-१५)
११ सत्वाच्चावरस्य ॥ (२-१-१६)
१२ असदिति चेन्न प्रतिषेद्यमात्रत्वात् (२-१-७)।
१३ असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्माणतरेण वाक्यशेषात् ॥ (२-१-१७)
१४ युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ (२-१-१८)
१५ पटवच्च ॥ (२-१-१९)
१६ अधिकं तु भेद निर्देशात् ॥ (२-१-२२)
१७ आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृहदा. २-४-६)
१८ अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २-१-२३)
१९ आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि,सवेपिताच तद्दर्शनात् ॥ (२-१२८,३०)
२० एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। (बृहदा. ३-८-९)
२१ विश्वस्य मिषतो वशी। (ऋ. १०-१९०-२)
२२ स्वभाविकी ज्ञान बल क्रिया ॥ (श्वेता. ६-८)
२३ श्रुतेस्तु शब्दमुलत्वात् ॥ (२-१-२७)
२४ विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ (२-१-३१)
२५ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः....श्वेता (३-१९)
२६ भोगापवगार्थं दृश्यम्। (योग. २-१८)
२७ वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ॥ (२-१-३४)
२८ पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ॥ (बृह. ३-२-१३)
२९ रचनानुपपत्तेश्च नानु मानम्। (२-२-१)
३० प्रवृत्तेश्च। (२-२-२)
३१ पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि। (२-१-३)
३२ व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्। (२-२-४)

३३ अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्। (२-२-५)
३४ नासतोऽदृष्टत्वात्। (२-२-२६)
३५ नाभाव उपलब्धेः। (२-२-२८)
३६ पत्युरसामञ्जस्यात्। (२-२-३७)
३७ अधिष्ठानानुपपत्तेश्च। (२-२-३८)
३८ स दाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। ... वेद
३९ करणवच्चेन भोगादिभ्यः॥ (२-२-४०)
४० अनश्नन् अन्यो अभि चाकशिति....वेद।
४१ अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा। (२-२-४१)
४२ उत्पत्यसंभवात्। (२-२-४२)
४३ न च कर्तुः करणम्। (२-२-४२)
४४ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चरभ्याधिकं च दृश्यन्ते।
....स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥
४५ यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्। (२-३-७)
४६ विपर्ययेण तु कमोऽत उपपद्यते तु। (२-३-१४)
४७ चराचर व्यपाश्रयस्तु तद्व्यापदेशो भाक्तस्तद् भाव भावित्वात्। (२-२-१६)
४८ जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न तु जीवो म्रियते॥ (छान्दोग्य उप. ६-११-१३)
४९ नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः। (२-३-१७)
५० ज्ञोऽत एवं। (२-३-१८)
५१ अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति आत्मा।
५२ उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्। (२-३-१९)
५३ तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही। (गीता २-२२)
५४ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणा पंचधा संविवेश (मुण्डक उप. ३-१-८)
५५ नाणुरेतत् श्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्। (२-३-२१)
स वा एष महानूज...। (बृह. ४-४-२२)
५६ कर्ताशास्त्रार्थवत्वात्। (२-३-३३)
५७ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः॥(यजु. ४०-२)
५८ यजते स्वर्गकामः।
५९ मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत्।
६० गांय मा हिंसीः (यजुर्वेद १३-४३)
६१ अणवश्च। (२-४-७)
६२ श्रेष्ठश्च। (२-४-८)
६३ वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः॥ (२-४-२२)

वेदान्त दर्शन

तृतीय अध्याय

अध्याय परिचय : वेदान्त दर्शन के **प्रथम अध्याय** में ब्रह्म की जिज्ञासा, उसका स्वरूप तथा प्रकृति और जीवात्मा से उसकी सत्ता पृथक् है यह विवेचन किया है। **द्वितीय अध्याय** में ब्रह्म के निराकार स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं अपितु निमित्त कारण है। जड़ प्रकृति अपने आंप स्वयं जगत् रूप में परिवर्तित नहीं होती अपितु उसको परिवर्तित करने वाला बनानेवाला परमेश्वर है। जीवात्मा विभु अर्थात् व्यापक नहीं अपितु परिच्छिन्न अर्थात् सूक्ष्म अणुरूप में है यह भी स्पष्ट किया है। **तृतीय अध्याय** में चार पाद है जिनमें १८६ सूत्र हैं। इस अध्याय में जीवात्मा के स्थूल-सूक्ष्मादि शरीरों का वर्णन तथा ब्रह्मज्ञान के साधनों का वर्णन किया हैं।

स्थूल और सूक्ष्म शरीर :- जीवात्मा का शरीर के साथ वियोग को मृत्यु तथा संयोग को जन्म कहते हैं। जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड़कर जाता है तो अकेला नहीं जाता अपितु अपने साथ में सूक्ष्म शरीर को लेकर जाता है। यह उपनिषद् (छान्दोग्य ५-३-३ तथा ५-९-१) के प्रश्नोत्तर के प्रसंग से स्पष्ट है[१]। मनुष्य की जब मृत्यु होती है तो स्थूल शरीर को अग्नि में जलाने या भूमि में गाड़ने आदि से वह नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने कारणों (पंचमहाभूतों में विलीन हो जाता है। मनुष्य स्थूल शरीर से जो भी शुभ या अशुभ कर्म करता है तो उसके संस्कार सूक्ष्म शरीर पर अंकित हो जाते हैं और जब जीवात्मा नये शरीर को धारण करता है अर्थात् उसका जन्म होता है तब पिछले जन्म में किये हुए शुभाशुभ कर्मों के संस्कार जो सूक्ष्म शरीर सुरक्षित रखता है जो अगले जन्म में जीवात्मा के साथ रहता है इस विषय का विवेचन छान्दोग्योपनिषद् ५-३-३ तथा ५-९-१ में विस्तार से किया है जिसका उल्लेख सूत्रकार नें यहां पर किया है।

प्राण और सूक्ष्म शरीर :- जीवात्मा जब एक शरीर को छोड़कर जाता है तो अपने साथ सूक्ष्म शरीर को ले जाता है। जीवात्मा के साथ प्राण भी जाते हैं यह भी सूत्र द्वारा उल्लेख किया गया है[२]। अर्थात् जब जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तब प्राण भी उसके साथ जाते हैं। लोक में यह प्रचलित भी है कि जिस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है उसके लिये कहा जाता है कि

उसके प्राण निकल गये हैं अर्थात् प्राण निकल गये तो जीव निकल गया हैं क्योंकि प्राण निराश्रित नहीं रहते हैं। आश्रय के बिना प्राणों में गति भी नहीं हो सकती है। प्राणों का आश्रय सूक्ष्म शरीर है। अतः मृत्यु के बाद जीवात्मा प्राण के साथ सूक्ष्म शरीर को लेकर दूसरे स्थूल शरीर में प्रविष्ट होता है।

शुभ और अशुभ कर्म :- मनुष्य दो ही प्रकार के कर्म करता है जिन्हे शुभ और अशुभ कहते हैं। इस विषय में बादरि के मत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि सुकृत (अच्छे कर्म) और दुष्कृत कर्म (बुरे कर्म) दो प्रकार के ही चरण है ऐसा आचार्य बादरि कहते हैं[३]। शुभ कर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है। छान्दोग्योपनिषद् (२-१०-७) में 'चरण' शब्द का प्रयोग हुआ है वह शुभाशुभ कर्म के लिये ही प्रयुक्त हुआ है ऐसा आचार्य बादरि का विचार है।

कर्म फल भोग :- जीवात्मा दूसरे जन्म में सूक्ष्म शरीर के साथ जाता है। सूक्ष्म शरीर में पिछले जन्म के किये हुए कर्मों के संस्कार रहते हैं। पिछले जन्म के किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिये वह जन्म लेता है अर्थात् कर्मों का भोग पूरा होने के बाद शेष संचित कर्म रह जाते हैं उनका फल भोगने के लिये अन्य शरीर को धारण कर लेता हैं। ऐसा स्मृति ग्रन्थों से जाना जाता है[४]। **कर्म को करने** तथा **कर्म के फल भोगने** के लिये जीवात्मा शरीर प्राप्त करता है। जब फल भोग पूरा हो जाता है तो जीवात्मा उस शरीर को छोड़ देता है तथा अन्य शरीर को प्राप्त कर लेता हैं। कर्मों के फलों को भोगने के लिये जीवात्मा का विभिन्न योनियों में जन्म होता है ऐसा छान्दोग्य. (५-१०-७) में वर्णन है।

विविध योनियों में जन्म :- जीवात्मा शुभ कर्मों का फल स्वर्ग-सुख विशेष के रूप में भोगता है तथा अशुभ कर्म (पाप) का फल दुःख के रूप में किस प्रकार भोगता है ? इस विषय में लिखा है कि शुभ कर्म को न करनेवाले पापी जन मृत्यु के पश्चात् पाप के फलों को भोगने के लिये परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार कीट पतंगादि नीच योनियों में जाते हैं। जब पाप कर्मों का फल भोग पूरा हो जाता है तब शेष बचे हुए साधारण कर्मों का फल भोगने के लिये सामान्य रूप से मानव शरीर को धारण करते हैं अर्थात् साधारण मनुष्य का जन्म पाते हैं[५]। अर्थात् जन्म जन्मान्तरों के कर्मों के संस्कार जीवात्मा के साथ रहते हैं, जो प्रारब्ध कर्म अर्थात् फल देने की स्थिति में हैं उन का फल भोगकर पुनः शेष कर्मों का

फल भोगने के लिये अन्य शरीर को धारण करता है। पाप अधिक हो जाते हैं तब उनका फल नीच योनियों में जाकर जीवात्मा भोगता है और जब भोग पूरा हो जाता है तो वापस सामान्य मनुष्य के रूप में उसका जन्म होता है। इस विषय में सूत्रकार लिखते हैं कि स्मृति ग्रन्थों में भी ऐसा ही लिखा है[६]। सात्विक कर्म करनेवाले को या राजसिक अथवा तामसिक कर्म करनेवाले कर्ता को क्या फल प्राप्त होता है ? यह मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में विस्तार से लिखा है।

योनिज और अयोनिज सृष्टि :- माता-पिता के संयोग से होनेवाले जन्म को योनिज सृष्टि कहते हैं किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में जब कोई प्राणी नहीं था तब प्राणियों का जन्म कैसे हुआ ? इस विषय में शास्त्रकारों की मान्यता है कि सृष्टि के आदि में प्राणियों की सृष्टि अयोनिज सृष्टि कहलाती है। इस विषय मे सूत्रकार ने लिखा है कि लोक (संसार) में यह कहा और सुना जाता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सभी प्राणियों का जन्म अयोनिज होता हैं[७]। जैसे सिर में गन्दगी के कारण जूँए पड़ जाती हैं। जूँ की उत्पत्ति अयोनिज है वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में अयोनिज सृष्टि हुई है। वैशेषिक दर्शन (४-२-११) में लिखा है कि **'सन्त्ययोनिजाः'** अर्थात् सृष्टि के आदि में प्राणियों का प्रादुर्भाव अयोनिज होता है। इस विषय की पुष्टि करते हुए अगले सूत्र में पुनः लिखा है कि लोक में देखे जाने से भी स्पष्ट होता है कि अयोनिज सृष्टि होती हैं[८]। संसार में सभी प्राणियों को चार भागों में विभक्त किया जाता है १ **जरायुज**, २ **अण्डज**, ३ **स्वेदज**, ४ **उद्भिज**। मनुष्य गाय, भैंसादि पशुओं के शरीर जरायुज है क्योंकि ये जरायु (जेर) द्वारा गर्भ में (जन्म से पहले) सुरक्षित रहते हैं। जरायु (जेर) जो एक थैली की तरह होती है उसके फटने पर गर्भस्थ शिशु गर्भ से बाहर आता है। उसका जन्म होता है इसलिये मनुष्य, गाय, भैंसादि पशुओं का शरीर **जरायुज** है। पक्षी-अण्डे से निकलते हैं इसलिये उनको **अण्डज** प्राणी कहते हैं। छोटे कृमि, कीड़े, जूँ-लीक आदि स्वेद (पसीने) के कारण पैदा होते हैं इसलिये इन्हें **स्वेदज** प्राणी कहते हैं किन्तु वृक्ष वनस्पति आदि भूमि के अन्दर से निकलते हैं इसलिये इनको **उद्भिज** कहते हैं। आज भी स्वेदज और उद्भिज श्रेणी के सभी प्राणियों का प्रादुर्भाव विना योनि के होता है इसलिये इनको अयोनिज कहा जाता है। सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों की रचना भी अयोनिज रूप में की है।

शंका समाधान :- जरायुज-अण्डज-स्वेदज और उद्भिज इन चार प्रकार की सृष्टि होती है फिर उपनिषदों में तीन प्रकार की सृष्टि होती है ऐसा क्यों कहा जाता है ? ऐसी शंका किसी को न हो जाय इसलिये इसका समाधान करते हुए लिखा है कि, छान्दोग्योपनिषद् (६-३-१) में जो जरायुज-अण्डज और उद्भिज ये तीन प्रकार की सृष्टि बतायी गयी है इसलिये तीन ही प्रकार की सृष्टि नहीं है। क्योंकि उद्भिज शरीर के अन्तर्गत ही स्वेद शरीर का भी अन्तर्भाव हो जाता है इसलिये उपनिषद् में तीन प्रकार की सृष्टि कही है[९]। अर्थात् चारों वर्ग का ही वर्णन है[१०]।

देवयान और पितृयान :- शास्त्रो में देवयान-पितृयान इन दो मार्गों का उल्लेख किया गया है। यज्ञ-याग-कूप तालाबादि बनानेवाले इष्ट कर्म करनेवाले शुभ कर्मों का फल भोगते है वे पितृयान के पथिक हैं, जो ज्ञान पूर्वक उपासना करते हैं वे देवयान के द्वारा ब्रह्म लोक को प्राप्त करते हैं[११]। वेदों में भी देवयान और पितृयान का वर्णन है। (यजु.१९-४७) में लिखा है कि मैं अपने पूर्वज पितरों और देवों के दो मार्ग सुनता हूँ जो मर्त्य रूप से यहां आते और जाते हैं[१२]। बृहदारण्यक (१-५-१६) में लिखा है कि शुभ कर्म करनेवाले पितृ लोक को तथा ज्ञानपूर्वक उपासना करनेवाले देव लोक को प्राप्त करते हैं[१३]।

तीन अवस्थाएं :- जीवात्मा की जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जागृत अवस्था में मनुष्य स्थूल शरीर से कार्यों को सम्पन्न करता है, जाग्रत अवस्था के पश्चात् स्वप्नावस्था आती है इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि स्वप्नावस्था में जीवात्मा मानसिक सृष्टि की रचना करता है ऐसा शास्त्रों में कहा है[१४]। जैसा कि बृहदा. (४-३-१०) में लिखा है कि स्वप्न में न रथ होता, न बैल, न घोड़े, न सड़क होती है किन्तु उन सबकी वहां जीवात्मा रचना कर लेता है[१५]। अर्थात् यथार्थ में उस समय कुछ नहीं होता है किन्तु जीवात्मा उन की रचना कर लेता है।

स्वप्नावस्था का स्वरूप :- स्वप्न वास्तविक हैं या नहीं है इसका वर्णन करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि स्वप्न वास्तविक नहीं है अपितु माया मात्र अर्थात् विपरीत ज्ञान है क्योंकि वहां पर वस्तु का स्वरूप पूर्ण रूप से प्रकट

नहीं होता है[१६]। अर्थात् स्वप्न में बड़े बड़े पहाड़, नदी, नाले, सड़के, हाथी, घोड़े आदि देखते हैं किन्तु वे उस समय वहां नहीं होते हैं, मानसिक रचना मात्र है, इसलिये मिथ्या-अयथार्थ हैं। किन्तु जिन पदार्थों को हम स्वप्न में देखते हैं, उनकी सत्ता यथार्थ रूप में संसार में विद्यमान है। जागृतावस्था में हमने उन पदार्थों को देखा है उसी के संस्कार मन पर रहते हैं और स्वप्नावस्था में उनकी मानसिक रचना कर लेता है अर्थात् जागृत के अनुसार स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था के अनुसार जागृत अवस्था नहीं है। यदि किसी ने जागते हुए सर्प (सांप) नहीं देखा तो उसे स्वप्न में भी सर्प (सांप) नहीं दीखेगा। इसलिये स्वप्नावस्था के समान समस्त संसार को मिथ्या नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

सुषुप्ति अवस्था :- स्वप्नावस्था का वर्णन करके सुषुप्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि स्वप्नावस्था का अभाव होने पर सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है तब जीवात्मा नाड़ियों में और परमात्मा में अवस्थित रहता हैं[१७]। अर्थात् सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) अवस्था में जीवात्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से कुछ भी कार्य हीं करता है अर्थात् बाह्य जगत् से उसका सम्पर्क टूट जाता है जिन नाड़ियों के द्वारा जागृत अवस्था में बाह्य जगत् से सम्पर्क करता है उन नाड़ियों में सुषुप्ति अवस्था में बैठ जाता है[१८]। परमात्मा के साथ उसका सम्पर्क हो जाता है। बाह्य जगत् से उसका कोई सम्पर्क नहीं रहता है ऐसा बृहदारण्यक में लिखा है[१९]। इसलिये शास्त्रों में सुषुप्ति की तुलना समाधि और मोक्ष से की गयी है। सुषुप्ति अवस्था में तमों गुण की प्रबलता रहती है इसलिये उस समय परमात्मा का ज्ञान नहीं रहता हैं जब कि समाधि और मोक्ष में परमात्मा की अनुभूति करता है।

परमात्मा का स्वरूप :- जीवात्मा की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का वर्णन करके सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि ये अवस्थाएं जीवात्मा की होती है परमात्मा की नहीं होती है[२०]। क्योंकि परमात्मा सभी (अर्थात् अन्दर और बाहर दोनो ही) जगह विद्यमान रहता है ऐसा वेदादि शास्त्रों में लिखा है[२१]। वेद उपनिषद् में परमात्मा को रूप रहित ही लिखा है। यजु. (४०-८) में उसे **अकायम्** अर्थात् शरीर रहित लिखा है। कठोपनिषद् (१-३-१५) में **अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अव्ययम्** अर्थात् परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप आदि से रहित अव्यय हैं। इस प्रकार का वर्णन अनेक स्थलों पर आता

है। शास्त्रों में परमात्मा को प्रकाश स्वरूप चेतन कहा है[२२]। वेद में स्पष्ट लिखा है कि जन्म मरण के प्रवाह में बहते हुए प्राणियों के हृदय में ज्योति स्वरूप चेतन ब्रह्म विराजमान है[२३]। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है[२४]। परमात्मा प्रकाश स्वरूप चेतन है। सूर्य का प्रकाश होने पर सभी प्राणी सक्रिय हो जाते हैं इसी प्रकार परमात्मा समस्त जगत् को गति प्रदान करता हैं इसलिये परमात्मा की उपमा सूर्यादि के साथ दी जाती है[२५]। यजु. (३१-१८) में परमात्मा सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप वर्णित किया है[२६]।

निराकार परमात्मा :- परमात्मा सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप हैं इस उपमा को देखकर कोई यह कल्पना न कर ले कि परमात्मा का आकार आदि स्वरूप है। मनुष्य जैसे सूर्य को आंखों से देखता है वैसे ही परमात्मा भी आंखों से देखा जा सकता है ऐसी शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि परमात्मा अव्यक्त है अर्थात् वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। ऐसा शास्त्रों में उल्लेख हैं[२७]। उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि वह परमात्मा वाणी, मन चक्षु आदि से नहीं जाना जा सकता है[२८]।

आनन्द स्वरूप परमात्मा को इन्द्रियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता है यह वर्णन करके आगे सूत्र में लिखा है कि **धारणा-ध्यान** और **समाधि** आदि के द्वारा साधना करनेवाला उपासक अपनी आत्मा में ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है। साधक की उस समय ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसकी सत्ता होने पर भी ब्रह्म के आनन्द में मग्न होने के कारण अपना अनुभव नहीं कर पाता है[२९]। ब्रह्म के आनन्द में मग्न होने से अपने को भी भूल जाता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवात्मा की कोई सत्ता ही नहीं रहती हैं, और जीव ही ब्रह्म बन जाता है। शास्त्रों में जीव के ब्रह्म होने का निषेध किया जाता है यह स्पष्ट किया है[३०]। उपनिषदों में स्पष्ट लिखा है कि परमज्योति परब्रह्म को प्राप्त करके जीवात्मा अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता है[३१]। अर्थात् **आत्मा आत्मा ही रहता है ब्रह्म नहीं बनता है।** ब्रह्म आनन्द स्वरूप है जिसको प्राप्त करके जीवात्मा आनन्द से युक्त हो जाता है। जीवात्मा पृथक् है तथा वह ब्रह्म से पृथक् ही रहता है[३२]।

सर्वव्यापक परमात्मा :- परमात्मा सर्वव्यापक है यह विस्तार शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है[३३]। परमात्मा को वेद-उपनिषदादि सभी शास्त्रों में सर्वव्यापक

लिखा है यह सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। यजुर्वेद में लिखा है कि परमात्मा सर्वव्यापक होता हुआ सब प्रजाओं में ओत प्रोत हैं[३४]। अर्थात् परमात्मा नित्य-विभु सर्वव्यापक और सबसे सूक्ष्म हैं[३५]। (जैसे दूध के प्रत्येक कण में घी विद्यमान है वैसे ही सृष्टि के कण कण के अन्दर परब्रह्म परमात्मा विद्यमान है[३६]।

कर्मफल दाता ईश्वर :- सर्वव्यापक परमात्मा जीवात्माओं को उनके कर्मों का फल देता है। यह तर्क (युक्ति) से स्पष्ट हैं[३७]। क्योंकि जीवात्मा शुभाशुभ कर्म करता है अशुभ कर्म का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है यदि फल देनेवाला परमात्मा न होकर जीव स्वयं होता तो कभी अशुभ कर्म का फल दुःख नहीं स्वीकार करता किन्तु जीवात्मा दुःख भोगता है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा के ऊपर कोई सर्वोपरि सत्ता हैं जिसके न्याय से कोई नहीं बचता अर्थात् पाप का फल दुःख है यह केवल तर्क और युक्ति से ही नहीं अपितु शास्त्रीय प्रमाणों से भी स्पष्ट होता है कि कर्म का फल देनेवाला परमात्मा हैं[३८]। वेद में लिखा है कि प्राणी मात्र के लिये योग्य पदार्थों का वितरण परमात्मा करता हैं[३९]। इस पाद के अन्त में महर्षि व्यास लिखते हैं कि परमात्मा सारे संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करनेवाला है। इसलिये वह सभी जीवों को कर्मों का फल देनेवाला है[४०]।

परमात्मा उपास्य :- परमात्मा की उपासना के विषय में तृतीय पाद में लिखा है कि सब उपनिषदों में उपास्यरूप में ब्रह्म का वर्णन किया गया हैं[४१]। अर्थात् परमात्मा की ही उपासना मनुष्य को करनी चाहिये। वही उपास्य-उपासना करने के योग्य है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देवताओं का उल्लेख करते हुए लिखा दिव्यगुण होने के कारण तथा जो देता है उसे **देवता** कहते हैं। देवता ३३ हैं किन्तु **परमात्मा देवों का भी देव महादेव है और वही उपास्य है**, उसी की उपासना करनी चाहिये। अन्य शास्त्रों में भी एक ही ब्रह्म की उपासना का वर्णन आता है। यह भी अगले सूत्र में लिखा हैं[४२]। जैसे कठोपनिषद (१-२-१५) में वर्णन है कि सारे वेद जिसका वर्णन करते हैं जिस को प्राप्त करने के लिये तपस्वी लोग तप करते हैं। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। वह पद संक्षेप से 'ओ३म् हैं[४३]। जो मैं तुम्हे बतलाता हूँ। परमात्मा एक है, वही उपास्य है ऐसा शास्त्रों में वर्णन है। यह विवेचन करके आगे लिखा है कि परब्रह्म परमेश्वर सब जगह व्यापक है। ब्रह्म के सर्वत्र व्यापक होने के कारण उसकी उपासना सब जगह

हो सकती हैं[४४]। ब्रह्म किसी स्थान विशेष पर रहता हो तो उसकी उपासना उसी स्थान पर बैठकर की जा सकती है किन्तु वेदादि शास्त्रों में परमात्मा को सर्वव्यापक लिखा है[४५]। इसलिये उपासना सब जगह की जा सकती हैं। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जलादि जड़ पदार्थों को भी देवता कहते हैं क्योंकि ये मनुष्यादि प्राणियों को जल-वायु प्रकाश आदि दे रहे हैं। इसलिये इनको देवता कहते हैं किन्तु इन जड़ देवताओं में सत्य-आनन्द गुण नहीं हैं, परमेश्वर इन तीन गुणों से युक्त है। इसलिये वह उपास्य है। परमेश्वर के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि आनन्द आदि गुण परब्रह्म परमात्मा के हैं[४६]। परमात्मा जड़ चेतन जगत् का स्वामी है, उसमें सत्य-ज्ञान-व्यापकत्व आनन्दादि गुण हैं जो अन्यत्र नहीं हैं। ये गुण ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को बतलाते हैं।

जगत् ब्रह्म का कार्य :- ब्रह्म का वर्णन करके यह संसार परमात्मा का बनाया हुआ है यह वर्णन करते हुए लिखा है कि समस्त संसार ब्रह्म का कार्य है। इससे भी ब्रह्म के अद्‌भुत स्वरूप तथा उसके अपूर्व गुण का उपसंहार उपासना में समझना चाहिये[४७]। ब्रह्म अपूर्व है अर्थात् ब्रह्म से पूर्व कोई नहीं है अर्थात् ब्रह्म का कोई कारण नहीं है अपितु ब्रह्म जगत् का कारण (निमित्त कारण) है। जगत् ब्रह्म का बनाया हुआ है। ब्रह्म का कार्य जगत् हैं। इसलिये उपनिषदों में ब्रह्म को सब का कारण-उत्पत्ति स्थान कहा है[४८]। परमात्मा विश्व का बनानेवाला है[४९]।

आत्मा में परमात्मा :- अनेक उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म जगत् का कर्ता है उसका कर्ता कोई नहीं है। परमात्मा जैसे सब जगह व्यापक है उसी प्रकार आत्मा में भी विद्यमान है इसलिये अपनी आत्मा में ही ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। आत्मा में ब्रह्म ऐसे ही व्याप्त है जैसे भूत समूह में है[५०]। आत्मा में परमात्मा विद्यमान है इस विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं जैसे जानने योग्य ब्रह्म हृदयरूप अंगुष्ठमात्र प्रदेश में आत्मा के अन्दर स्थित है[५१]। आत्मा में स्थित उस ब्रह्म को धैर्यशाली साक्षात् करते हैं[५२]। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म की उपासना अपनी आत्मा में कहीं पर भी बैठकर की जा सकती हैं।

उपासना में श्रद्धा व जागरूकता :- ब्रह्म की उपासना करना बहुत ही प्रयत्न साध्य है। यदि उसे नियमित रूप से श्रद्धा पूर्वक किया जाता है तो सफलता प्राप्त होती हैं अन्यथा नहीं। इस प्रसंग में महर्षि वेद व्यास लिखते हैं कि श्रद्धा

पूर्वक उपासना का अनुष्ठान करना चाहिये। जिससे उपासना विधि का लोप न होवे[५३]। क्योंकि श्रद्धापूर्वक उपासना करने से ही ब्रह्मज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है[५४]। उपासना श्रद्धापूर्वक करने से ही सफल होती हैं इसलिये योगदर्शन में भी आता है कि अभ्यास निरन्तर करना चाहिये, वह भी दीर्घकाल तक अर्थात् बहुत लम्बे समय तक अभ्यास करते रहना चाहिये तथा श्रद्धापूर्वक करना चाहिये श्रद्धाहीन व्यक्ति उपासना के मार्ग में सफल नहीं हो सकता है[५५]। श्रद्धा के विषय में लिखा है कि यज्ञ के प्रति श्रद्धा होने पर ही व्यक्ति अग्नि प्रज्वलित (अग्न्याधान) करता है। श्रद्धा होने पर ही यज्ञ में आहुति देता है[५६]। अर्थात् श्रद्धा होने पर ही व्यक्ति यज्ञादि शुभकर्म कर पाता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति यज्ञादि शुभ कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। उपासना के पथ पर चलनेवालों को सचेत करते हुए लिखा है कि उपासना के लिये तैयार हो जाओ, उपासना करते समय सदा सतर्क और जागरूक रहो, जिससे अध्यात्म पक्ष से विचलित न हो सको तथा जागरूक रहते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करो[५७]। जो उपासक श्रद्धा और तप के साथ उपासना करने में लगे रहते हैं वे ब्रह्म को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं[५८]।

आत्मा का अस्तित्व :- उपासना का वर्णन करने के बाद शरीर में आत्मा है या नहीं इस विषय में वर्णन करते हुए लिखा है कि कुछ आचार्यों की मान्यता है कि शरीर में सारे कार्य आत्मा के नाम से ही होते हैं अर्थात् शरीर के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है तब आत्मा की उपासना के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है यह कहना ठीक नहीं है[५९]। इसका समाधान करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व है। क्योंकि जब शरीर में आत्मा नहीं रहता है तब शरीर में वे कार्य नहीं होते हैं, जो आत्मा के रहते हुए होते हैं। मृत शरीर में आत्मगुणों की उपलब्धि नहीं होती हैं। अतः शरीर से भिन्न चेतन आत्मा है। उस चेतन आत्मा के लिये मोक्ष का उपदेश करना उचित है[६०]। उपासना की विधि उपासना के लिये श्रद्धा तपादि का होना, तथा आत्मा का अस्तित्व शरीर के अतिरिक्त है, यह विवेचन इस प्रसंग में किया हैं।

मोक्ष के लिये ब्रह्म ज्ञान :- तृतीय अध्याय के **चतुर्थपाद** में ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ का साधन है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। उपासना के साथ ब्रह्मज्ञान भी मोक्ष के लिये आवश्यक है। यह विवेचन किया गया है। इस के प्रारम्भ में ही

लिखा है कि उपासना से जनित ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। यह शास्त्र वचन से जाना जाता है ऐसा व्यास मानते हैं[६१]। अर्थात् परमात्मा को जानकर ही मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा अनेक स्थलों पर वर्णन आया है[६२]।

आश्रम धर्म :- ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए जिज्ञासु जिस आश्रम में है उसे अपने आश्रम धर्म का पालन करना चाहिये या नहीं करना चाहिये। इस का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि उपासना करनेवाले व्यक्ति को जिस आश्रम में है और उसके लिये जो आश्रम कार्य (कर्तव्य) बताये गये हैं उनका पालन करना चाहिये क्योंकि आश्रम कर्म शास्त्रविहित हैं[६३]। अर्थात् गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम में रहते हुए अपने आश्रमस्थ कर्मों (कर्तव्यों) का पालन करते हुए ब्रह्म ज्ञान में तत्पर रहना चाहिये।

इस अध्याय के अन्त में यह विवेचन किया गया है कि इस जन्म में ही ब्रह्म ज्ञान हो जाता है या नहीं होता है। इस विषय में लिखा है कि यदि कोई प्रतिबन्ध-अन्तराय-विघ्न (बाधा) न आवे तो इसी जन्म में ब्रह्म ज्ञान हो जाता है ऐसा देखा भी जाता है[६४]। यदि कोई उपासक ब्रह्म ज्ञान में निरन्तर प्रयत्नशील रहे तथा कोई प्रतिबन्ध अर्थात् कोई विघ्न न आवे तो इस जन्म में ही ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने में सफल हो सकता है। विघ्न आने के कारण कभी कभी व्यक्ति ब्रह्मज्ञान की चर्चा सुनते हुए भी इसे नहीं जानते है जैसे कि कहा भी है[६५]। श्रवण मननादि करते हुए साधक ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में सफल हो सकता हैं।

ब्रह्मज्ञान होने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है यह स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ऐसा कभी नहीं होता है ब्रह्मज्ञान इस जीवन में हो और मोक्ष अगले जीवन में प्राप्त हों[६६]। अर्थात् ज्ञान होने पर मोक्ष प्राप्त होना निश्चित है इसलिये इस जीवन में ज्ञान प्राप्त होता है तो इस देह के छूटने पर आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट है[६७]। अर्थात् जब यह चेतन आत्मा जगत्कर्ता परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात् कर लेता है तब वह ज्ञानी समस्त कामनाओं से रहित होकर परब्रह्म को प्राप्त हो जाता हैं। अतः ब्रह्म ज्ञान होने पर मुक्ति हो जाती हैं।

प्रमाण :

१. तदूनन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। (३-१-१)

२. प्राणगतेश्च। (१-३) ३. सुकृत दुष्कृते एवेति तु बादरिः। (३-१-११)

४. कृताऽत्ययेऽनुशयवान् दृष्ट स्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च। (३-१-८)

५. संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद् गति दर्शनात्॥ (३-१-१३)

६. स्मरन्ति च। (३-१-१४) ७. स्मर्यतेऽपि च लोके। (३-१-१९)

८. दर्शनाच्च। (३-१-२०) ९. तृतीय शब्दावरोधः संशोकजस्य॥ (३-१-२१)

१०. अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोदूभिज्जानि च।

११. विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्। (३-१-१७)

१२. द्वे स्रुती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्॥

१३. "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः'॥ १४.सन्ध्ये सृष्टिराह हि। (३-२-१)

१५. स यत्र स्वपिति न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते॥

१६. माया मात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्। (३-२-३)

१७. तद्भावो नाड़ीषु तत् श्रुतेरात्मनि च। (३-२-७)

१८. तदा नाडीषु सुप्तो भवति। (छान्दो ८-६-३)

१९. प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्॥ (वृह. ४-३-२१)

२०. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि॥ (३-२-११)

२१. अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्। (३-२-१४) २२. आह च तन्मात्रम्। (३-२-१६)

२३. ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशयेकंमनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः...। (ऋग्. ६-९-५)

२४. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। (बृहदा.३-९-२८)

२५. अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्। (३-२-१८)

२६. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः पुरस्तात्॥ (३१-१८)

२७. तदव्यक्तमाह हि। (३-२-२३)

२८. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा...॥ (कठ. २-३-१२)

२९. प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्। (३-२-२५)

३०. प्रतिषेधाच्च। (३-२-३०)

३१. परं ज्योति रूपसंपद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते..॥ (छान्दो. ८-१२-३)

३२. रसं ह्येवायं लब्धा आनन्दी भवतिः..॥ (तैत्ति. २-७)

३३. अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः। (३-२-३७)

३४. स ओत प्रोतश्च विभूः प्रजासु..॥ (३२-८)

३५. नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्...॥ (मुण्ड. १.१.६)
३६. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्तितम् ॥ (श्वेता ६)
३७. फलमत उपपत्तेः । (३-२-३८) । ३८. श्रुतत्वाच्च ॥ (३-२-३९)
३९. अहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥ (ऋग. १०-४८-१)
४०. पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ॥ (३-२-४१)
४१. सर्ववेदान्त प्रत्ययं चोदनाद्य विशेषात् ॥ (३-३-१) ४२. दर्शयति च ॥ (३-३-४)
४३. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति.. ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ (कठो. १-२-१५)
४४. व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ (३-३-९) ४५. ईशा वास्यमिदं सर्वम्..॥ (यजु. ४०-१)
४६. आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ (३-३-११) ४७. कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ (३-३-१८)
४८. एष योनिः सर्वस्य । (माण्डूक्य. ६) अक्षरात सम्भवतीह विश्वम् ॥ (मुण्ड. १-१-७)
४९. स विश्वकृत् । (श्वेता. ६-१५) ५०. अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥ (३-३-३५)
५१. अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति...॥ (कठो. २-१-१२)
५२. तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः ..॥ (कठ. २-२-१२)
५३. आदरादलोपः ॥ (३-३-४०) ५४.उपस्थिततेऽतस्तद्वचनात् ॥ (३-३-४१)
५५. स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥ (योग. १-१४)
५६. श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि : ॥ (ऋग्वेद)
५७. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधतः ...॥ (मुण्डक १-३-१४)
५८. ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ....॥ (छान्दोग्य ५-१०-१)
५९. एक आत्मनः शरीरेऽभावात् ॥ (३-३-५३)
६०. व्यतिरेकस्तद् भावाभावितत्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ (३-३-५४)
६१. पुरुषार्थोतः शब्दादिति बादरायणः ॥ (३-४-१)
६२. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ...॥ (यजु. ३१-१८)
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः ॥ (अथर्व १०-८-४४)
तरति शोकमात्मवित्...॥ (छान्दो. ७-१-३) ब्रह्मविदाम्नोति परम् ॥ (तैत्ति. २-१)
६३. विहितत्त्वाच्चाश्रमकर्माऽपि ॥ (३-४-३२)
६४. ऐहिकमप्यप्रस्तुत प्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ (३-४-५१)
६५. श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः । (कठो. १-२-७)
६६. एवं मुक्ति फलानियमस्तदवस्थाधृतेः स्तदवस्था धृतेः ॥ (३-४-५२)
६७. पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ (मु. ३-१-३)

चतुर्थ अध्याय

अध्याय परिचय : वेदान्त दर्शन के **प्रथम अध्याय** में ब्रह्म की जिज्ञासा, उसका स्वरूप तथा प्रकृति और जीवात्मा से ब्रह्म पृथक् है, यह प्रतिपादन किया गया है। **द्वितीय अध्याय** में ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण तथा विभु है, प्रकृति इस संसार का उपादान कारण है तथा जीवात्मा परिच्छिन्न अर्थात् सूक्ष्म अणु रूप है। **तृतीय अध्याय** में जीवात्मा के स्थूल सूक्ष्म शरीर का वर्णन करके ब्रह्मज्ञान के साधनों का विवेचन किया गया है। **चतुर्थ अध्याय** में ७५ सूत्र हैं। इसमें ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने में श्रवण-मनन और निदिध्यासनादि साधनों का विशेष महत्व है। इनका वर्णन करते हुए उपासना और उपास्य ब्रह्म के विषय में इस अध्याय में वर्णन किया गया है। ब्रह्मज्ञान के साधनों का बार बार प्रयोग करने में कोई दोष नहीं है अपितु इससे अभ्यास में दृढ़ता आती है और ब्रह्म के स्वरूप को जानने में साधक सफल होता है। इस विषय का वर्णन करते हुए इस अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है कि शास्त्रों में अनेक बार उपदेश का वर्णन होने से ज्ञात होता है कि ब्रह्म के ज्ञान के साधनों का निरन्तर अभ्यास करना चाहियें[१]।

निरन्तर अभ्यास :- किसी एक ही विषय पर बार बार बोलना या लिखना साहित्य में पुनरावृत्ति दोष माना जाता है किन्तु अध्यात्म में इसे दोष नहीं माना जाता है। इसलिए अभ्यास का विवेचन करते हुए योगदर्शन (१-१४) में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि ब्रह्म की उपासना का अभ्यास निरन्तर बहुत लम्बे समय तक तथा श्रद्धापूर्वक करना चाहिये[२]। अर्थात् लम्बे समय तक बार बार अभ्यास करने से अभ्यास दृढ़ होता है। गुरुजनों से एक बार अध्यात्म के विषय में सुनने से सामान्य ज्ञान होता है, बार बार उस विषय में सुनने से उस विषय में दृढ़ता आ जाती है।

इस विषय में अगले सूत्र में लिखा है कि शास्त्रों में विद्यमान प्रमाणों से भी स्पष्ट होता है कि श्रवण-मनन निदिध्यासनादि साधनों की बार बार आवृत्ति करनी चाहिये[३]। मानव जीवन का लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार करना है इसके लिये मनुष्य को श्रवण मननादि करना चाहिये यह बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि आत्मा देखने योग्य है। श्रवण-मनन और निदिध्यासन उसके साधन हैं[४]। श्रवण अर्थात् गुरुजनों से उस विषय में सुनना, सुनकर उस विषय में चिन्तन करने को मनन तथा सुने हुए और चिन्तन किये हुए विषय को ब्रह्म साक्षात्कार होने तक निरन्तर ध्यान करने को निदिध्यासन कहते हैं।

ध्यान का विषय ब्रह्म :- निदिध्यासन का विषय ब्रह्म है इसको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि सर्वव्यापक परमात्मा निदिध्यासन का विषय हैं ऐसा ऋषि लोग और वेदादि शास्त्र स्वीकार करते हैं तथा इसका ज्ञान कराते हैं[५]। परमात्मा ही ध्यान का विषय है इस विषय में मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि ओ३म् का ध्यान करो[६]। ध्यान का विषय सर्वव्यापक परब्रह्म है। यह विचार करके कोई यह सोचने लगे कि ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है इन जड़ पदार्थों (मूर्ति आदि) में भी होने के कारण उन जड़ पदार्थों का भी ध्यान कर लेना चाहिये। इस का समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि किसी भी भौतिक पदार्थ अर्थात् जड़ पदार्थ में ब्रह्म की भावना (ध्यान) नहीं करना चाहिये। क्योंकि कोई भी प्रतीक ब्रह्म नहीं हैं[७]। अर्थात् भौतिक पदार्थ जड़ हैं तथा ब्रह्म चेतन और आनन्द स्वरूप है इसलिये दोनों में बहुत भिन्नता है तथा विरोधी गुण है। अतः जड़ पदार्थ का ध्यान करना व्यर्थ है।

ध्यान का प्रकार :- ध्यान का विषय ब्रह्म है इसका वर्णन करके अगले सूत्रों में ध्यान कैसे करना चाहिये यह वर्णन करते हुए लिखा है कि उपासना में ध्यान बैठकर करना चाहिये[८]। क्योंकि खड़े-खड़े ध्यान करने में कठिनाई होती है और सोकर ध्यान करने से निद्रा आलस्यादि की संभावना रहती है। इसलिये ध्यान बैठकर ही किया जाना चाहिये। इस विषय में अगले सूत्र में पुनः लिखा है कि ध्यान शब्द से भी यही स्पष्ट होता है ईश्वर की उपासना बैठकर ही करनी चाहिये[९]। चित्त की एकाग्रता बैठकर हो सकती है, इसलिये बैठकर ध्यान करने का उल्लेख किया गया हैं। जब तक शरीर में स्थिरता नहीं आती तब तक ध्यान में मन ठीक से नहीं लग सकता है, शरीर में अचलता (स्थिरता) बैठने से आती है[१०]। शरीर की चेष्टाओं को बैठकर रोका जा सकता है इसलिये बैठकर ध्यान करने का उल्लेख किया है। ध्यान करते करते जब समाधि की अवस्था आने लगती है तब उसको **निदिध्यासन** कहते हैं तथा उसके लिये शरीर को निश्चल (स्थिर) रखना आवश्यक हैं, इसीलिये योगदर्शन में भी आठ अंगों में **'आसन'** का एक अंग के रूप में वर्णन किया है। इसी को सूत्रकार ने ('स्मरन्ति च' ४-१-१०) सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है।

ध्यान का स्थान :- उपासना करने का स्थान विशेष निश्चित होना चाहिये या किसी भी स्थान पर बैठकर परमात्मा का ध्यान किया जा सकता है, इस को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जहां पर बैठकर ईश्वर के ध्यान में मन लग जाय और चित्त एकाग्र हो जाय उसी स्थान पर बैठकर ध्यान करना चाहिये। इसके

लिये किसी देश (स्थान) विशेष या दिशा विशेष का होना कोई आवश्यक नहीं है[११]। अर्थात् जहां भी बैठकर चित्त में एकाग्रता हो जाय उस स्थान पर बैठकर ध्यान करना चाहिये। **उपासना का स्थान** - सम हो पवित्र तथा शान्त हो आदि जो उल्लेख कहीं शास्त्रों में मिलता है उसका भी तात्पर्य यह है कि ये सब मन की एकाग्रता में सहायक हैं अर्थात् जहां मन ध्यान में लग जाय वहां पर बैठकर ध्यान करना चाहिये।

ध्यान का समय :- ध्यान के स्थान का उल्लेख करने के पश्चात् काल का वर्णन किया गया हैं अर्थात् ध्यान कब तक करना चाहिये। इस विषय में लिखा है कि शास्त्रों में ऐसा वर्णन मिलता है कि मरणपर्यन्त परमात्मा का ध्यान करना चाहिये[१२]। अर्थात् जब तक जीवन है तब तक मनुष्य को परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। ऐसा ही प्रश्नोपनिषद् में मिलता है[१३]। अर्थात् हे भगवन्! वह मरणपर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है।

संचित एवं प्रारब्ध कर्म का फल :- निदिध्यासन का निरन्तर अभ्यास करने से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। परमात्मा का साक्षात्कार होने से उसका आत्मा पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ज्ञानी योगी पाप कर्मों में लिप्त नहीं होता है। तथा पिछले जन्म में किये हुए कर्म जो प्रारब्ध (फल भोगने की) स्थिति में आ गये हैं उनका फल तो भोगता है किन्तु जो संचित कर्म है उन कर्मों को ब्रह्म ज्ञान की अग्नि से दग्ध कर देता है अर्थात् जला देता या नष्ट कर देता है। जैसे चने को भूनने पर वह अंकुरित नहीं होता है वैसे ही ज्ञानाग्नि से संचित पाप कर्म नष्ट कर दिये जाते हैं। यह स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ऐसा आध्यात्मिक शास्त्रों में वर्णन मिलता है[१४]।

ब्रह्मज्ञानी के कर्म दग्ध :- उपनिषदों में लिखा है कि ब्रह्म के पद को जानना चाहिये, उसको जानकर पाप कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं होता है[१५]। जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता है। वैसे ही ब्रह्म ज्ञान जिसको हो जाता है उसको पाप नहीं लगता है[१६]। मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि जैसे अग्नि अपने तेज से प्राप्त हुए इंधन को क्षण भर में जला देती है वैसे ही बह्म ज्ञानी अपने तत्त्व ज्ञान से पाप कर्म को जला (नष्ट कर) देता है[१७]। अर्थात् आत्म साक्षात्कार किये हुए योगी को कर्मों को भोगने के लिये पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। उसकी मुक्ति हो जाती है।

ब्रह्मज्ञानी के कर्म क्षीण (नष्ट) :- ब्रह्म ज्ञान होने से पाप कर्म ही क्षीण नहीं होते हैं अपितु पुण्य कर्म भी समाप्त हो जाते हैं। जो कर्म प्रारब्ध कोटि में है

उनका तो योगी को भोग करना ही पड़ता है किन्तु जो संचित कर्म हैं उनको ज्ञानाग्नि से योगी नष्ट कर देता है चाहे वे पुण्य कर्म भी हों तो वे भी नष्ट हो जाते हैं यह सूत्रकार ने स्पष्ट किया है[१८]।

कभी किसी को यह सन्देह न रहे कि ब्रह्म ज्ञानी के पाप कर्म क्षीण होते हैं और पुण्य कर्म क्षीण नहीं होते हैं। इस सन्देह को दूर करने के लिए सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना की हैं और स्पष्ट किया कि पाप और पुण्य दोनों ही कर्म क्षीण हो जाते हैं। शास्त्रों में भी ऐसे ही प्रमाण मिलते हैं जैसे ब्रह्मज्ञानी पाप और पुण्य इन दोनों कर्मों से तर (पार हो) जाता है अर्थात् दोनों से अछूत हो जाता है[१९]। परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर उसके सारे पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं[२०]। अन्यत्र भी लिखा है कि ब्रह्मज्ञानी पाप और पुण्य दोनों को क्षीण करके ब्रह्म को प्राप्त करता है[२१]। कर्म क्षीण (नष्ट) होने के कारण उनका फल न होने से फल भोगने के लिये योगी को पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता इसलिये ब्रह्मज्ञानी योगी का मोक्ष हो जाता है अर्थात् यज्ञ-दान और तपादि सत्कर्म ब्रह्म ज्ञान से सहायक हैं इसलिये इस ओर ब्रह्मज्ञानी प्रवृत्त रहते हैं। इन शुभ कर्मों को नहीं छोड़ते हैं।

शुभ कर्म ब्रह्मज्ञान के प्रेरक :- यदि ज्ञानाग्नि से पाप और पुण्य दोनों ही क्षीण हो जाते हैं तो अग्निहोत्रादि परोपकार वाले शुभ कर्म कोई नहीं करेगा। इन कर्मों को करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी। इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि अग्निहोत्रादि शुभ कर्म तो ज्ञान रूपी अग्नि को प्रज्वलित रखने में सहयोगी हैं इन्हीं कर्मों को करता हुआ ब्रह्म ज्ञान के लिये योगी प्रवृत्त होता है और ब्रह्मज्ञान के लक्ष्य-ब्रह्म साक्षात्कार तक पहुंचता है ऐसा शास्त्रों में वर्णन देखने से ज्ञात होता है[२२]। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मों को कभी नहीं छोड़ता है। इस विषय में लिखा है कि ब्राह्मण वेदों का अध्ययन करके, यज्ञ के द्वारा, दान से, तप से परमात्मा को जानना चाहते हैं[२३]। अर्थात् यज्ञ-दान और तपादि सत्कर्म ब्रह्मज्ञान में सहायक हैं इसलिये इस ओर ब्रह्मज्ञानी प्रवृत्त रहते हैं। इन शुभ कर्मों को नहीं छोड़ते हैं।

मृत्यु के समय इन्द्रियां अपने कारण (मन) में लीन :- मृत्यु के समय जीवात्मा जब स्थूल शरीर को छोड़ता हैं उस समय का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट किया हैं कि वाणी लड़खड़ाने लगती है, मनुष्य बोलना चाहता है किन्तु बोल नहीं पाता है, वाणी अपने कारण मन में लीन हो जाती है, ऐसा देखा जाता है और शब्द प्रमाण से भी ज्ञान होता है[२४]। अर्थात् जैसे मृत्यु का समय निकट आता है। मनुष्य कुछ कहना चाहता है किन्तु कुछ कह नहीं पाता है। वाणी

अपना व्यापार करना बन्द कर देती हैं। शास्त्रों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। श्वेतकेतु को उसके पिता उद्दालक आरुणि कहते हैं कि हे सोम्य ! जब पुरुष की मृत्यु का समय आता है तब उसकी वाणी मन में चली जाती है[२५]। मृत्यु के समय सबसे पहले वाणी का व्यापार बन्द होता है। उसके बाद अन्य इन्द्रियां भी अपना व्यापार (कार्य) करना बन्द कर देती हैं अर्थात् वे भी वाणी की तरह अपने कारण में लीन हो जाती हैं[२६]। कारण से कार्य होता है और कार्य अपने कारण में विलीन होता है जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है और घड़ा वापस अपने कारण मिट्टी में विलीन हो जाता है वैसे ही मृत्यु के समय सभी इन्द्रियां अपने कारण (मन) में विलीन हो जाती हैं ऐसा शास्त्रों में भी वर्णन मिलता है। जैसा कि लिखा है जब अन्तिम श्वास बाहर निकल जाता है तब ठण्डे हुए तेजवाला आत्मा मन में लीन होती हुई सभी इन्द्रियों के साथ पुन: जन्म को प्राप्त होता है[२७]।

मन और प्राण का लय :- इन्द्रियों का लय मन में होता है और मन का लय प्राण में होता है और प्राणों का लय आत्मा में हो जाता हैं यह अगले सूत्रों से स्पष्ट है[२८]। शास्त्रों में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। मन प्राण में चला जाता है और प्राण का लय तेज आत्मा में होता है[२९]। जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड़कर प्राण मन-इन्द्रियादि के साथ दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर तो यहीं छूट जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ अगले शरीर में जाता है। जीवात्मा का पुनर्जन्म होता है तथा पिछले जन्म में स्थूल शरीर द्वारा किये हुए शुभ कर्मों के संस्कार सूक्ष्म शरीर में रहते हैं जो पुनर्जन्म में शुभ अशुभ कर्मों के प्रेरक होते हैं।

सभी की समान स्थिति :- मृत्यु के समय जो स्थिति ज्ञानियों की होती वही स्थिति अज्ञानियों की भी होती है या ज्ञानी अज्ञानी, निर्धन-धनी, बलवान्-निर्बल आदि सभी की होती है। इस को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि मरने के समय ज्ञानी-अज्ञानी, धनी-निर्धन सभी की समान स्थिति होती है। जीवात्मा कर्मानुसार गति करता हुआ दूसरे शरीर को प्राप्त करता है तथा ब्रह्मज्ञानी शरीर को न प्राप्त करके अमर हो जाता है। अमृत मोक्ष को प्राप्त करता है। दूसरे शरीर या अमरत्व को प्राप्त करने से पहले, मृत्यु के समय स्थूल शरीर को छोड़ते समय की स्थिति ज्ञानी और अज्ञानी की समान ही रहती हैं[३०]।

सूक्ष्म शरीर का काल :- जन्म और मृत्यु के समय जीवात्मा जब स्थूल शरीर को ग्रहण करता है और छोड़ता है अर्थात् स्थूल शरीर बनता है और नष्ट हो जाता है। एक जन्म में स्थूल शरीर जीवात्मा के साथ रहता है किन्तु सूक्ष्म शरीर

जीवात्मा के साथ कब तक रहता है इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि **सूक्ष्म शरीर सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक जीवात्मा के लिये परमात्मा बनाता है और प्रलयावस्था तक रहता है।** प्रलयावस्था में प्रत्येक कार्य पदार्थ अपने कारण तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं। इसलिये प्रकृति से बना हुआ यह सूक्ष्म शरीर प्रलय काल में अपने कारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। प्रलयावस्था तक सामान्य रूप से सूक्ष्म शरीर रहता है किन्तु ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मज्ञान होने से ब्रह्म की प्राप्ति होने तक रहता है, ब्रह्म की प्राप्ति होते ही ज्ञानी का सूक्ष्म शरीर अपने कारण में विलीन हो जाता है। ब्रह्मज्ञान होने पर प्रलयकाल से पहले ही ब्रह्मज्ञानी का सूक्ष्म शगीर छूट जाता है वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीरों से मुक्त हो जाती हैं[३१]।

सूक्ष्म शरीर अतीन्द्रिय :- मृत्यु के समय जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर से निकल कर अन्य शरीर में प्रविष्ट होता है तो स्थूल शरीर से निकलता हुआ **सूक्ष्म शरीर दीखता क्यों नहीं है ?** तथा वह अन्य शरीर में प्रविष्ट होने के लिये जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तब **रास्ते में अन्य पदार्थों से टकराता क्यों नहीं है ?** इसका समाधान करते हुए लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक जीवात्मा के लिये पृथक् पृथक् बननेवाला सूक्ष्म शरीर जो प्रलय तक रहता हैं वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये मार्ग में किसी से टकराता नहीं हैं तथा दीखता भी नहीं है, यह शास्त्रीय प्रमाण से भी ज्ञात होता हैं[३२]। सूक्ष्म शरीर जिन तत्वों से बनता है वे अतीन्द्रिय होते हैं अत: वह इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता तथा अतीन्द्रिय होने से किसी स्थूल पदार्थ से टकराता भी नहीं है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के साथ नेत्र श्रोत्रादि या शरीर के किसी भी स्थान से निकल जाता है[३३]।

सूक्ष्म शरीर का धर्म उष्णता :- सूक्ष्म शरीर अत्यधिक सूक्ष्म है इसलिये स्थूल शरीर के नष्ट होने से उसका नाश नहीं होता है[३४] यह भी सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्थूल शरीर में जो उष्णता (गर्मी) रहती हैं। उष्णता सूक्ष्म शरीर की है जिसके कारण से स्थूल शरीर गरम रहता है[३५]। इससे ज्ञात होता है स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर भी है। अर्थात् उष्णता स्थूल शरीर का धर्म नहीं हैं। अपितु सूक्ष्म शरीर का धर्म है इसलिये सूक्ष्म शरीर के निकलने पर स्थूल शरीर में उष्णता नहीं रहती है। स्थूल शरीर ठण्डा हो जाता है। यदि उष्णता धर्म स्थूल शरीर के रूप धर्म की तरह होता तो जैसे सूक्ष्म शरीर के न रहने पर अर्थात् मृत्यु होने पर भी स्थूल शरीर दीखता है क्योंकि रूप धर्म स्थूल शरीर का है इसलिये स्थूल शरीर के साथ रहता हैं उष्णता

धर्म स्थूल शरीर का होने पर, मृत्यु होने पर, भी उष्णता स्थूल शरीर में रहनी चाहिये। किन्तु नहीं रहती है। इससे स्पष्ट है कि यह (उष्णता) गुण स्थूल शरीर का नहीं अपितु सूक्ष्म शरीर का है जो सूक्ष्म शरीर का बोध कराता है।

मुक्तावस्था :- स्थूल और सूक्ष्म शरीर का वर्णन करके जीवात्मा किस प्रकार अन्य शरीर में प्रविष्ट होता है तथा ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा ब्रह्म को कैसे प्राप्त करता है यह विवेचन अनेक सूत्रों में किया है। जो ब्रह्म को प्राप्त करता है। अर्थात् उसकी मुक्ति हो जाती है, सभी दुःखों से उसका छुटकारा हो जाता है। उस समय जीवात्मा ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है। जीवात्मा शरीर से सुख दुःखादि का भोग करता है, जब मुक्तावस्था में कोई शरीर नहीं रहता तब आनन्द की अनुभूति कैसे करता है मुक्ति में जीवात्मा किस रूप में रहता और कैसे आनन्द भोगता है इत्यादि विषयों का विवेचन इस शास्त्र के अन्तिम पाद में विस्तार से किया गया है।

कैवल्यरूप :- ब्रह्म को प्राप्त करने का वर्णन करके आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त करके अपने कैवल्यरूप से प्रकट होता हैं[३६]। जब सांसारिक अवस्था में जीवात्मा रहता है तब वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से युक्त रहता हैं और सुख दुःखादि को भोगता तथा राग, द्वेषादि से युक्त रहता है किन्तु जब जीवात्मा मुक्त हो जाता है तब वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से रहित हो जाता है तब वह सुख-दुःख, राग, द्वेषादि विकारों से रहित होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। केवल अपने स्वरूप के अतिरिक्त जीवात्मा के साथ कुछ भी नहीं रहता है इसी कारण इसे कैवल्यरूप में रहता है यह कहा गया है। शास्त्रों में भी इस विषय में प्रमाण भी मिलते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्म साक्षात्कार किया हुआ आत्मा इस शरीर से उठकर परमज्योति ब्रह्म को प्राप्त करके अपने वास्तविक कैवल्यरूप से प्रकट होता है[३७]।

मुक्तावस्था में जीवात्मा :- मुक्तावस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप कैवल्य रूप में रहता है। यह कैसे ज्ञात होता है इसको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि प्रतिज्ञा वाक्य से यह ज्ञात होता है कि मुक्त अवस्था में जीवात्मा का जो रूप प्रकट होता है वह जीवात्मा का अपना वास्तविक रूप है[३८]। इस विषय में छान्दोग्योपनिषद् (८-७-१) में लिखा है कि यह शुद्ध आत्मा जरा मृत्यु शोक भूख प्यास आदि से रहित है वह सच्चे संकल्पवाला है; यह आत्मा के मुक्तावस्था में विद्यमान स्वरूप का वर्णन है। इसी प्रसंग में लिखा है कि जब जीवात्मा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है तब वह देवदत्तादि नाम तथा देहादि रूप से मुक्त होकर

ब्रह्म को प्राप्त करना ही उसका कैवल्यावस्था है[३९]।

मुक्ति में जीवात्मा की स्थिति :- जब आत्मा ब्रह्म को प्राप्त करता है तब उसकी स्थिति कैसी होती है ? जैसे देवदत्त ग्राम को प्राप्त करता (जाता) है, ग्राम में जाकर देवदत्त की पृथक् स्थिति रहती है या जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है वैसे ही आत्मा ब्रह्म में मिल जाता हैं। इस विषय में सूत्रकार ने लिखा है कि मोक्षावस्था में आत्मा ब्रह्म के साथ अविभाग से अवस्थित रहता है क्योंकि उस समय ब्रह्म जीवात्मा के लिये देखा हुआ होता है[४०]। इस विषय में उपनिषद् में लिखा है कि जैसे नदियां बहती हुई अपने नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में मिल जाती है वैसे ही देवदत्तादि नाम तथा देहादि के रूप को छोड़कर आत्मा ब्रह्म को प्राप्त करता हैं[४१]। नदियों को समुद्र में मिलने पर भी नदी के पानी का अस्तित्व नष्ट नहीं होता हैं, समुद्र के पानी में नदी का पानी मिल जाता है। जैसे नदी का पानी नष्ट नहीं होता वैसे ही मुक्ति में जीवात्मा का अस्तित्व नष्ट नहीं होता है। जैसे नदी का मीठा पानी समुद्र के खारे पानी में मिलकर वह भी खारा हो जाता है वैसे ही आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करके जीवात्मा आनन्दयुक्त हो जाता है। समुद्र के पानी से भाप बनती और बादल बनकर पानी बरसता और नदियां बहती रहती है। यह व्यवस्था निरन्तर चलती रहती है वैसे ही मुक्ति का भोग करके जीवात्मा पुनः सांसारिक अवस्था में आता है, फिर ब्रह्म ज्ञान-उपासनादि करके मुक्तावस्था को प्राप्त करता है। यह क्रम अनादिकाल से चल रहा है।

मुक्ति में जीवात्मा का अस्तित्व :- यदि मुक्तावस्था में जीवात्मा का अस्तित्व समाप्त होता तो फिर उपनिषदों में यह लिखा हुआ व्यर्थ हो जाता कि जीव ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है, मुक्तावस्था में आत्मा परम समता को प्राप्त हो जाता है, वह आनन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता है[४२]। जब जीवात्मा का अस्तित्व ही मोक्ष में न रहा तब उसका कुछ न देखना तथा समता (समानता) को प्राप्त करना आदि सब व्यर्थ हो जाता। उपनिषदों में ऐसे वाक्य विद्यमान हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि मोक्ष में जीवात्मा का अस्तित्व बना रहता हैं।

मुक्ति में संकल्प से आनन्द भोग :- मोक्ष में जीवात्मा के शरीर-मन-इन्द्रियादि भोग के कारण साधन नहीं होते हैं। वह आनन्द का भोग कैसे करता है। इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि मोक्ष में जीवात्मा केवल संकल्प से ऐश्वर्य का भोग करता है ऐसा श्रुति से ज्ञात होता हैं[४३]। जैसे सांसारिक जीवन में मनुष्य कुछ भी काम करना चाहता है तो पहले संकल्प करता है सोचता है फिर उसके लिये साधन एकत्रित करता है और शरीर इन्द्रियादि से कार्य करता

है। बिना सोचे तो सांसारिक जीवन में भी मनुष्य कार्य नहीं कर पाता है। मोक्ष में जीवात्मा के शरीर मन इन्द्रियादि करण (आन्तरिक और बाह्यकरण) नहीं रहते किन्तु वह अपनी स्वाभाविक संकल्पशक्ति से आनन्दादि ऐश्वर्य का भोग करता है। ऐसे ही भावों का उल्लेख करते हुए उपनिषद् में लिखा है कि जिस प्रदेश व कामना का वह अभिलाषी होता है वह उसके संकल्प से ही उभर आता है अर्थात् उस संकल्प से सम्पन्न होता हुआ जीवात्मा आनन्दित रहता है[४४]।

जीवात्मा स्वतन्त्र :- जीवात्मा मोक्षावस्था में प्राकृतिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है इसलिये प्रकृति या प्राकृतिक पदार्थ का उस पर आधिपत्य या प्रभाव नहीं रहता है। वह प्राकृतिक साधन शरीरेन्द्रियादि के लिये विवश या असहाय भी नहीं रहता है, उसका स्वामी मात्र केवल ब्रह्म ही रहता है वह स्वतंत्र रहता है, इस विषय में लिखा है कि मुक्तावस्था में सत्य संकल्प युक्त होने के कारण ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी पति स्वामी जीवात्मा का नहीं होता है[४५]। जीवात्मा पूर्ण स्वतंत्र होता है अतः जहां चाहे वहां वह संकल्प मात्र से भ्रमण कर सकता है[४६]।

विना शरीर के भोग :- जीवात्मा शरीर के बिना ऐश्वर्य भोग कैसे करता है इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि जैसे जीवात्मा स्वप्न में शरीर और इन्द्रियों का सहयोग न होने पर भी सुख दुःखादि का भोग करता है वैसे ही मोक्षावस्था में शरीरेन्द्रियादि के न होने पर आनन्द की अनुभूति होती है[४७]। स्वप्न में अन्तःकरण मन के द्वारा सुख दुःखादि का भोग करता है मोक्ष में आत्मा के संकल्प शक्ति के द्वारा आनन्द की अनुभूति करता है।

जीवात्मा में जगत् रचना का सामर्थ्य नहीं :- जीवात्मा को मोक्ष में अपने सत्य संकल्प शक्ति के द्वारा आनन्द भोग के लिये उसके शरीरेन्द्रियादि की आवश्यकता नहीं रहती है इतना सामर्थ्य उसमें आ जाता है तथा स्वतंत्रता से वह सर्वत्र विचरण कर लेता है, तो क्या वह जगत् की रचना करने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है या नहीं। इस विषय में सूत्रकार ने लिखा हैं कि जगत् व्यापार को छोड़कर अन्य ऐश्वर्य मुक्तात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि जगत् रचना के प्रकरण में शास्त्रों में वर्णन आता है कि ब्रह्म जगत् की रचना करता है, जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म है, सृष्टि रचना का सामर्थ्य ब्रह्म में ही है यह सामर्थ्य मुक्त जीवात्मा में नहीं है अतः मुक्त जीवात्मा जगत् की रचना करने में असमर्थ हैं[४८]।

ब्रह्म का अनन्त सामर्थ्य :- ब्रह्म का सामर्थ्य मुक्त जीवात्मा से बहुत अधिक है वह समस्त विश्व के अन्दर बाहर सब जगह समाया हुआ है। उसका

ऐश्वर्य असीमित है ऐसा शास्त्रों में लिखा है प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी यह स्पष्ट होता है, यह सूत्रकार ने स्पष्ट किया है[४९]। वेद में स्पष्ट ही लिखा है कि ईश्वर सब जगह है **(ईशा वास्यमिदं सर्वम् ...** यजु. ४०-१**)** वह इस जगत् के बाहर सब जगह विद्यमान है[५०]।

शास्त्र के अन्तिम सूत्र में सूत्रकार ने मुक्ति से पुनरावृत्ति के विषय में लिखा है कि शब्द प्रमाण से जाना जाता है कि मुक्त जीवात्मा इस प्रकार अर्थात् सांसारिक जीवात्मा की तरह नहीं लौटता है[५१]। अर्थात् सामान्य जीवात्मा बार बार जन्म और मरण के बन्धन में आता रहता है वैसे ही मुक्त जीवात्मा इस काल (सृष्टिकाल) में जन्म मरण के बन्धन में नहीं आता है। मुक्ति के आनन्द को दीर्घकाल तक भोगकर ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार अन्य कल्प में वापस लौटता है, इसलिये शंकराचार्य ने इस विषय में लिखा है कि इस कल्प के अनन्तर पुनरावृत्ति जानी जाती हैं[५२]।

इस प्रकार इस शास्त्र में ब्रह्म प्रकृति जीव मुक्ति आदि विषयों का विस्तृत विश्लेषण महर्षि वेदव्यास ने अत्युत्तम रीति से किया है।

प्रमाण :

१. *आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ (४-१-१)*
२. *स तु दीर्घ काल नैरन्तर्य सत्कारासेविते दृढ़ भूमिः ॥*
३. *लिङ्गाच्च ॥ (४-१-२)*
४. *आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः । (४-५६)*
५. *आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यान्ति च ॥ (१४-१-३)*
६. *ओमित्येवं ध्यायथ । (२-२-६)*
७. *न प्रतीके न हि सः ॥ (४-१-१)*
८. *आसीनः सम्भवात् ॥ (४-१-७)*
९. *ध्यानाच्च ॥ (४-१-८)*
१०. *अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ (४-१-९)*
११. *यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ (४-१-११)*
१२. *आप्रयणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥ (४-१-१२)*
१३. *स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत ॥ (प्रश्न उप. ५-१)*
१४. *तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेष विनाशौ तद्व्यपदेशात् । (४-१-१३)*
१५. *तस्यैव स्यात्पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन....। (बृह. ४-४-२३)*
१६. *यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लष्यते ॥ (छान्दो. ४-१४-३)*
१७. *यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।*
१८. *तथा ज्ञानाग्नि पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ (मनु. १२-१०१)*

१९. इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ (४-१-१४)
२०. उभे उ हैवैष एते तरति । (बृह.४-४-२२)
२१. अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ (४-१-१६)
२२. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा...। (बृह. ४-४-२२)
२३. वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च । (४-२-१)
२४. अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते .. । (छान्दो ६-८-६)
२५. अत एव च सर्वाण्यनु ॥ (४-२-२)
२६. तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः .. । (प्रश्नोपनिषद् ३-९)
२७. तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ (४-२-३, ४)
२८. मनःप्राणे... प्राणस्तेजसि ....। (छान्दो. ६-८-६)
२९. समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्त्वं चानुपोष्य । (४-१-७)
३०. तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ (४-२-८)
३१. सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ (४-२-२)
३२. चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ॥ (बृह. ४-४-२)
३३. नोपमर्देनातः ॥ (४-२-१०)
३४. अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ (४-२-२१)
३५. सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ (४-४-१)
३६. एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ... (छान्दो. ८-१२-३)
३७. मुक्तः प्रतिज्ञात् ॥ (४-४-२)
३८. तथा विद्वान नामरूपाद् विमुक्तःपरात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ..॥ (मुण्डक ३-२-८)
३९. अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४-४-४)
४०. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परः पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (मुण्डक. ३-२-८)
४१. ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, यत्र नान्यत् पश्यति । (बृह. ४-४-७, छान्द. २४-१)
४२. परमं साम्यमुपैति मु. ३-२-३) परात् परः पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (मुण्डक. ३-२-८)
४३. संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः । (४-४-८)
४४. यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति...॥ (छान्दो. ८-२-१०)
४५. अत एव चानन्याधिपतिः ॥ (४-४-९)
४६. तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतिः । (छान्दो.)
४७. तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ (४-४-१३)
४८. जगत् व्यापरवर्जं प्रकरणाद संनिहितत्वाच्च ॥ (४-४-१७)
४९. दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ (४-४-२०)
५०. तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । (यजु. ४०-५)
५१. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ (४-४-२२)
५२. तस्मादस्मात्कल्पात् ऊर्ध्वम् आवृति र्गम्यते । (शांकरभाष्य बृहदा. ६-२-१५)

पूर्व मीमांसा (मीमांसा दर्शन)

मीमांसा शब्द का अर्थ :- मान धातु से जिज्ञासा (जानने की इच्छा) अर्थ में ''मान् वध दान् शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य'' (अष्टाध्यायी ३-१-६) सूत्र से सन् प्रत्यय होकर **मीमांसा** शब्द बनता है। जिसका तात्पर्य है कि किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) को ''मीमांसा'' कहते हैं। इसलिये महर्षि जैमिनि ने मीमांसा शास्त्र का प्रारम्भ **''अथातो धर्म जिज्ञासा''** सूत्र से करते हुए स्पष्ट किया है कि धर्म को जानने की इच्छा की जाती है। इसी प्रकार **'उत्तरमीमांसा'** अर्थात् वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र में भी जिज्ञासा शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है ''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'' अर्थात् ब्रह्म को जानने की इच्छा की जाती है। वेदान्त और मीमांसा दर्शन के प्रथम सूत्र से स्पष्ट होता है कि मीमांसा और जिज्ञासा शब्द पर्यायवाची है। इसलिये पूर्वमीमांसा में धर्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) धर्म (कर्म-मीमांसा) और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) में ब्रह्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) ब्रह्ममीमांसा का उल्लेख करके धर्म (कर्म) और ब्रह्म का विवेचन इन दोनों शास्त्रों में किया गया है।

मीमांसा के अन्य नाम :- मीमांसा शास्त्र को **'विचार शास्त्र'** भी कहते हैं क्योंकि जानने की इच्छा मात्र से ही नहीं अपितु जानने के लिये प्रयत्न करने का विचार (चिन्तन) भी इस शास्त्र में किया गया है इसलिये इसे ''विचार शास्त्र'' भी कहते हैं। मीमांसा दर्शन में लगभग एक हजार न्याय का उल्लेख किया गया है, इसलिये ''**न्याय विस्तर**'' शब्द का प्रयोग भी इस शास्त्र के लिये किया गया है।

मीमांसा शास्त्र के दो नाम :- प्राचीन काल में मीमांसा और वेदान्त दर्शन दोनों के लिये एक ही शब्द ''मीमांसा शास्त्र'' का प्रयोग होता था। बाद में इन दोनों के लिये पृथक् पृथक् शब्द **पूर्वमीमांसा** और **उत्तरमीमांसा** शब्द का प्रयोग होने लगा। पूर्वमीमांसा के लिये मीमांसा तथा **उत्तर मीमांसा** के लिये **वेदान्त दर्शन** या **बादरायण सूत्र** शब्द का प्रयोग होता है। पूर्वमीमांसा में **१६ अध्याय** हैं तथा वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा) में **चार अध्याय** हैं दोनों को मिलाकर **बीस अध्याय** होते हैं। इसलिये प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि **मीमांसा शास्त्र में बीस अध्याय** है। पूर्व मीमांसा के **१६ अध्याय जो पूर्वकाण्ड** हैं जो धर्म विचारात्मक हैं जैमिनिमुनि रचित हैं तथा **चार अध्याय उत्तरकाण्ड**

(उत्तरमीमांसा) के हैं जो ब्रह्म विचारपरक वेदव्यास (बादरायण मुनि) रचित है। ऐसा प्रपंच हृदय नामक ग्रन्थ में लिखा हैं[१]। मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी से पहले बीस अध्याय युक्त मीमांसा (पूर्वोत्तर मीमांसा) शास्त्र का भाष्य आचार्य बोधायन और उपवर्ष ने किया है ऐसा उल्लेख मिलता है।

मीमांसा शास्त्र का परिचय :- मीमांसा शास्त्र में १६ अध्याय हैं। एक से बारह अध्याय "**द्वादशलक्षणी**" के नाम से जाने जाते हैं तथा **तेरह से सोलह** अध्याय पर्यन्त **चार अध्याय** "**संकर्षण काण्ड**" या '**देवताकाण्ड**' के नाम से जाने जाते हैं। यह सभी आस्तिक दर्शनों में बड़ा है। इसमें २६४४ सूत्र हैं तथा इसमें ९०९ अधिकरण (प्रकरण) हैं।

प्रथम अध्याय में धर्म का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में शब्दान्तर अभ्यास, संख्या, संज्ञा तथा कर्म के ६ भेदों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान तथा समाख्या का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्ति बोधक प्रमाणों का वर्णन किया गया है। पंचम अध्याय में क्रम अर्थात् कर्म (क्रिया) आगे पीछे करने के निर्देश का वर्णन है। षष्ठ अध्याय में अधिकरण का उल्लेख है। सप्तम और अष्टम अध्याय में अतिदेश अर्थात् एक कर्म की समानता होने पर अन्य कर्म के विनियोग का वर्णन है। नवम अध्याय में ऊह (तर्क) का वर्णन तथा दशम अध्याय में बाध का एकादश अध्याय में तन्त्र का तथा द्वादश अध्याय में विविध प्रसंगों का वर्णन है। इन बारह अध्यायों पर ही भाष्य-वार्तिक-टीका आद लिखी गयी है। अन्तिम चार अध्याय (१३-१६) पर किसी की टीका या भाष्यादि नहीं मिलता है।

मीमांसा शास्त्र की परम्परा :- मीमांसा शास्त्र कब प्रारम्भ हुआ इस विषय में कुमारिल भट्ट द्वारा रचित ग्रन्थ "**श्लोक वार्तिक**" के टीकाकार 'पार्थसारथि मिश्र' ने लिखा है कि **ब्रह्मा ने प्रजापति** को प्रजापति ने आदित्य को आदित्य ने वसिष्ठ को, वसिष्ठ ने पराशर को और पराशर ने कृष्ण द्वैपायन (व्यास) को तथा **कृष्ण द्वैपायन (व्यास) ने जैमिनि मुनि** को मीमांसा शास्त्र का उपदेश दिया[२]।

मीमांसा शास्त्र के आचार्य :- ब्राह्मण ग्रन्थों श्रौत सूत्रों और गृहसूत्रों में मीमांसा शास्त्र के १९ आचार्यों का उल्लेख मिलता है जिनके नाम इस प्रकार है। ब्रह्मा-महेश्वर-प्रजापति-इन्द्र-आदित्य-वसिष्ठ-आत्रेय-आलेखन-आश्मरथ्य-

ऐतिशायन-औडुलौमि-कामुकायन-काशकृत्स्न-कार्ष्णाजिनि-बादरि-लाबुकायन-पराशर-बादरायण जैमिनि।

मीमांसा शास्त्र के रचयिता :- मीमांसा शास्त्र के रचयिता महर्षि जैमिनि है। ये महर्षि वेदव्यास (कृष्ण द्वैपायन) के शिष्य थे। इन्होंने महर्षि वेदव्यास से सामवेद का अध्ययन किया था। इसलिये **जैमिनि मुनि** ने सामवेद की शाखा **जैमिनीय संहिता** और इसके ब्राह्मण ग्रन्थ-जैमिनीय ब्राह्मण का प्रवचन किया था। तथा मीमांसा शास्त्र की रचना की। जैमिनि के पिता का नाम अज्ञात है। जैमिनि शब्द व्याकरण के अनुसार जिमिन् या जेमिन् शब्द से बनता है। इसके अनुसार इनके पिता का नाम जिमिन् या जेमिन् रहा होगा। जैमिनि महर्षि वेदव्यास के शिष्य थे अतः जैमिनि का समय महाभारत कालीन अर्थात् आज से पांच हजार वर्ष पूर्व का है।

शास्त्र का प्रयोजन :- मीमांसा शास्त्र की रचना के प्रयोजन अर्थात् लक्ष्य (उद्देश्य) का वर्णन करते हुए कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थ ''श्लोक वार्तिक'' में लिखा है कि **वेदों के द्वारा विहित (निर्दिष्ट) इष्ट साधन धर्म का विवेचन करना मीमांसा शास्त्र का प्रयोजन है**[3]। वेदों में निर्दिष्ट कर्तव्याकर्तव्य रूपी धर्म अर्थात् कर्म का अनुष्ठान करना, कर्म में आस्था या विश्वास रखना, कर्म का प्रभावशाली मानना आदि का वर्णन होने से इसे कर्ममीमांसा भी कहते है।

वेद एवं **ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि** के विषय में आये हुए **वाक्यों** (वचनों) में **दृष्टिगोचर होनेवाले विरोधों को दूर करने** और **उनकी परस्पर संगति लगाने के लिये** (अर्थात् कर्मकाण्ड विषयक प्रसंगों (प्रकरणों) की संगति लगाने के लिये) **जैमिनि मुनि ने मीमांसा** (पूर्वमीमांसा) **शास्त्र की रचना की।** इसी प्रकार उपनिषदों में ब्रह्मविषयक वाक्यों के दृष्टिगोचर होनेवाले पारस्परिक विरोधी को दूर करने या उनकी संगति लगाने के लिये बादरायण ने उत्तर मीमांसा (वेदान्त दर्शन) की रचना की है। इस प्रकार **कर्मकाण्ड** और **ज्ञानकाण्ड** विषयक विरोधों के परिहार (दूर) करने लिये **मीमांसा शास्त्र** (पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त दर्शन) की रचना की गयी है।

महाभारत के समय याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रक्रियाओं में विविध मतभेद उत्पन्न हो गये थे। महर्षि जैमिनि ने वेद और वेद की शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों के प्रमाणों का उल्लेख करके याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रक्रियाओं में विद्यमान मतभेद

को दूर करने का महान् प्रयत्न किया। मन्त्र अनर्थक हैं, जड़ देवताओं का शरीर होता है, वे स्वर्ग में रहते हैं आदि-आदि अनेक अवैदिक **मिथ्या परम्पराएं** प्रारम्भ हो गयी थी **जिनका निराकरण महर्षि जैमिनि ने मीमांसा शास्त्र में किया है। यही शास्त्र का प्रयोजन है।**

मीमांसा का भाष्य :- मीमांसा के बीस अध्याय (पूर्वमीमांसा के १६ तथा उत्तरमीमांसा के चार अध्याय) का भाष्य आचार्य **बोधायन** ने **कृतकोटि** नामक अति **विस्तृत भाष्य** लिखा। इसका संक्षेप **'उपवर्ष'** आचार्य ने किया। यह उल्लेख प्रपंच हृदय के लेखक ने किया है। पूर्व मीमांसा (के १६ अध्यायों) का अति **संक्षिप्त भाष्य 'देवस्वामी'** ने किया। **भवदास** ने भी पूर्वमीमांसा का भाष्य किया है। **शबर स्वामी ने बारह अध्याय** पर्यन्त **मीमांसा का भाष्य** किया है। जो **शाबरभाष्य** के नाम से प्रसिद्ध है। शाबरभाष्य की व्याख्या **कुमारिल भट्ट** और **प्रभाकर मिश्र** ने की है। प्रपंच हृदय के लेखक के अनुसार **बोधायन-उपवर्ष-देवस्वामी, भवदास** और **शबरस्वामी** ये पांच प्राचीन भाष्यकार हुए हैं[४]। मीमांसा शास्त्र का भाष्य **महर्षि वेदव्यास** ने भी किया था ऐसा **ऋषि दयानन्द** के ग्रन्थों से ज्ञात होता है। ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनि कृत व्याख्या पढ़े पढ़ावे (सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास) तत्पश्चात् जैमिनि मुनि कृत पूर्वमीमांसा का व्यासमुनि कृत व्याख्या पढ़े पढ़ावें (संस्कार विधि-वेदारम्भ संस्कार)

मीमांसा का शाबर भाष्य :- मीमांसा के १२ अध्यायों का भाष्य शबर स्वामी ने किया है जो शाबरभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। शबर स्वामी ने मीमांसा में विद्यमान गम्भीर विषयों का पाण्डित्य पूर्ण शैली में विवेचन इस भाष्य में किया है। इस समय उपलब्ध भाष्यों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक माना जाता है। **इस भाष्य में चौबीस हजार श्लोक हैं** ऐसा प्रपंच हृदय में लिखा है[५]। शबर स्वामी का उल्लेख वेदान्त दर्शन के (३-३-५३) सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने किया है[६], इससे ज्ञात होता है कि **शाबर भाष्य की रचना आदि शंकराचार्य से पहले हो गयी थी**। अतः शाबर भाष्य का समय शंकराचार्य से प्राचीन है।

शाबर भाष्य के व्याख्याता :

कुमारिल भट्ट : कुमारिल भट्ट ने मीमांसादर्शन के शाबरभाष्य की व्याख्या करते हुए तीन ग्रन्थ लिखे हैं जो इस प्रकार हैं। १) श्लोकवार्तिक, २) तन्त्रवार्तिक,

३) टुप्टीका

कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का समय समकालीन रहा होगा। कुमारिल भट्ट से पहले भी शाबरभाष्य के व्याख्याकार हुए हैं ऐसा कुमारिल भट्ट के 'तन्त्रवार्तिक' ग्रन्थ से ज्ञात होता है। कुमारिल ने शाबर भाष्य की व्याख्याओं को अपने ग्रन्थ 'तन्त्रवार्तिक' में उद्धृत करके उनका खण्डन किया है। इस से स्पष्ट है कि कुमारिल से पहले शाबर भाष्य के व्याख्याकार हुए हैं।

कुमारिल भट्ट का भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन और बौद्ध दार्शनिक विद्वान् वेदों पर अनेकानेक आक्षेप किया करते थे। कुमारिल भट्ट उनका तर्क और प्रमाणों के साथ उत्तर दिया करते थे। उनके विषय में संस्कृत लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि वेदों पर होनेवाले प्रहारों को सुनकर वेदानुयायी राजा की पुत्री दु:खी होकर रोती हुई कह रही थी कि वेदों का उद्धार कौन करेगा ? (**को वेदानुद्धरिष्यति** ?) इसका उत्तर देते कुमारिल ने कहा था कि बालिके ! रोने की आवश्यकता नहीं है, इस विषय को लेकर मत रोओ। अभी धरती पर वेदों पर आक्षेप करनेवालों को उत्तर देने के लिये कुमारिल भट्ट जीवित है। (**मा रुदिहि वरारोहे ! भट्टाचार्योऽस्ति भूतले**) कुमारिल भट्ट ने प्रच्छन्न रूप से बौद्ध विद्वानों के सानिध्य में रहकर बौद्ध दर्शन का गहन अध्ययन किया तथा अपने प्रबल तर्कों से बौद्ध मान्यताओं का खण्डन किया। इन्होंने छलपूर्वक (प्रच्छन्न रहते हुए) बौद्ध गुरुओं से बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया था इसलिये इनके मन में सदा ग्लानि रहती थी कि मैंने गुरुओं के साथ छल-कपट किया है इसलिये प्रायश्चित करने के लिये उन्होंने अपने शरीर को तुषाग्नि में भस्म कर दिया (अर्थात् आत्मदाह कर लिया) ऐसी किंवदन्ती इनके विषय में प्रचलित है। कुमारिल भट्ट के (भाट्ट) मत के माननेवाले अनुयायी विद्वानों में मण्डनमिश्र (७ वी शताब्दी) पार्थ सारथि मिश्र (१२ वी शताब्दी) माधवाचार्य (१४ वी शताब्दी) खण्डदेव (१७ वी शताब्दी) आदि हुए हैं।

वेदों की रक्षा एवं प्रचार प्रसार के लिये कुमारिल भट्ट ने मीमांसा दर्शन के शाबर भाष्य की व्याख्या करके उस पर ग्रन्थ लिखकर शाबरभाष्य को सुदृढ़ करने का प्रयास किया।

१. शाबरभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की व्याख्या श्लोकों में करके "**श्लोक वार्तिक**" ग्रन्थ लिखा।

२. शाबरभाष्य के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय तक की व्याख्या गद्य में करके "**तन्त्र वार्तिक**" ग्रन्थ लिखा।

३. शाबरभाष्य के चतुर्थ अध्याय से लेकर बारहवे अध्याय पर्यन्त गद्य में संक्षिप्त व्याख्या लिखी है जो "**टुप्टीका**" के नाम से प्रसिद्ध है।

मीमांसा के १३-१६ अध्याय जो संकर्ष या संकर्षण काण्ड या दैवत काण्ड के नाम से जाने जाते हैं। इन पर शाबरभाष्य नहीं है अतः कुमारिल भट्ट या इनके बाद में आने वाले विद्वानों ने इन चार अध्यायों पर भाष्य नहीं किया है। **पठन-पाठन की परम्परा बारह अध्याय पर्यन्त ही रह गयी।** इन्हीं १२ अध्यायों पर भाष्य-टीका-वार्तिक आदि लिखे गये हैं। किन्तु शबरस्वामी से पहले देवस्वामी ने इन चार अध्यायों का भी भाष्य किया था।

श्लोकवार्तिक के टीका ग्रन्थ :- मीमांसा दर्शन के शाबरभाष्य की व्याख्या श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में की है इस पर अधोलिखित टीकाएं हैं।

१. तात्पर्य टीका : इसके रचयिता भट्ट उम्बेक है। भवभूति का दूसरा नाम उम्बेक है ऐसा प्रसिद्ध है। इनको कुमारिल भट्ट का शिष्य भी माना जाता है। इन्होंने श्लोकवार्तिक पर यह 'तात्पर्य टीका' नामक ग्रन्थ लिखा है।

२. शर्कटिका : इसके रचयिता जयमिश्र है।

३. काशिका : इसके लेखक सुचरित मिश्र है।

४. न्याय रत्नाकर : इसके लेखक पार्थसारथि मिश्र है।

तन्त्रवार्तिक की टीकाएं :

१. न्याय सुधा : श्री सोमेश्वर भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' पर यह टीका लिखी है.इनका समय विक्रम की सोलहवी शताब्दी माना जाता है।

२. श्री म.म.वासुदेव अभ्यंकर के अनुसार 'तन्त्रवार्तिक' पर श्री मण्डन मिश्र (विक्रम की नवीं शताब्दी) श्री कमलाकर भट्ट (विक्रम की सोलहवी शताब्दी) तथा कवीन्द्र एवं पाल भट्ट ने भी टीकाएं लिखी हैं।

३. टुप् टीका : श्री पार्थ सारथि मिश्र ने टुप् टीका पर **तन्त्र रत्न** नामक टीका लिखी है।

कुमारिल भट्ट के शिष्य :

१. मण्डनमिश्र : कुमारिल भट्ट के मुख्य शिष्य मण्डनमिश्र थे। ये शंकराचार्य से शास्त्रार्थ में हार गये तब शंकराचार्य के शिष्य हो गये थे तब इनका

नाम सुरेश्वराचार्य हो गया था। इनके लिखे हुए ग्रन्थ अधोलिखित है

१. मीमांसा सूत्रानुक्रमणी, २. विधि विवेक, ३. भावना विवेक, ४. विभ्रमविवेक, ५. स्फोटसिद्धि, ६.ब्रह्मसिद्धि

२. **उम्बेक** : कुमारिल भट्ट के दूसरे शिष्य उम्बेक हुए हैं। इन्होंने तात्पर्य टीका (श्लोक तात्पर्य की टीका) तथा (मण्डनमिश्र की रचना) भावना विवेक की टीका लिखी है।

भाट्ट मतानुयायी विद्वान् :- मीमांसा शास्त्र के शाबरभाष्य के व्याख्याता कुमारिल भट्ट के मत को माननेवाले विद्वानों में १. श्री पार्थसारथि मिश्र २. श्री माधवाचार्य तथा ३. श्री खण्डदेव मिश्र ये **तीन** प्रसिद्ध **विद्वान्** हुए हैं।

१. पार्थ सारथि मिश्र : इन्होंने न्याय रत्नाकर (श्लोकवार्तिक की टीका) तर्करत्न (टुप्टीका की टीका) ये दो टीका ग्रन्थ लिखे हैं तथा न्याय रत्नमाला यह एक मीमांसा पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा है।

२. माधवाचार्य : ये सायणाचार्य के बड़े भाई थे। इन्होंने **न्याय माला विस्तर** नामक ग्रन्थ लिखा।

३. खण्डदेव मिश्र : इन्होंने संन्यास लिया और संन्यास लेने पर ये श्री धरेन्द्र यतीन्द्र के नाम से विख्यात हुए। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। भाट्ट कौस्तुभ (मीमांसा सूत्रों की व्याख्या) तथा "**भाट्ट दीपिका**" और **भाट्ट रहस्य** ये दो मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं।

श्री खण्डदेव मिश्र के गुरु श्री विश्वेश्वर भट्ट हुए हैं जो गांगा भट्ट के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इन्होंने मीमांसा सूत्रों पर टीका लिखी जो "**भाट्टचिन्तामणि**" के नाम से जानी जाती है।

इनके अतिरिक्त नारायण, लौणाक्षि भास्कर, शंकरभट्ट, अनन्तभट्ट, रामेश्वर सूरि, कृष्ण यज्वा आदि भाट्ट मत के अनुयायी विद्वान् हुए हैं।

२. प्रभाकर मिश्र : मीमांसा शास्त्र के विद्वानों में प्रभाकर मिश्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका मत **'गुरुमत'** के नाम से प्रसिद्ध है। कुमारिल भट्ट ने प्रभाकर को 'गुरु' कहकर सम्बोधित किया है ऐसी किंवदन्ती है। इसलिये प्रभाकर मिश्र के मत को मीमांसकों में 'गुरुमत' के नाम से जाना जाता है।

प्रभाकर मिश्र ने मीमांसा के शाबरभाष्य पर **'लघ्वी'** और **'बृहती'** ये दो टीकाएं लिखी है। 'लघ्वी' टीका का दूसरा नाम 'विवरण' तथा 'बृहती टीका का नाम'' निबन्धन' भी मिलता है। अपनी इन दोनों टीकाओं में प्रभाकर मिश्र ने

कुमारिल भट्ट की मान्यताओं का खण्डन किया है। इसलिये मीमांसा में **''भाट्ट मत''** और **'गुरुमत'** ये दो मत प्रसिद्ध हैं। प्रभाकर मिश्र के गुरुमत को माननेवाले विद्वानों की परम्परा में **श्री शालिकानाथ, श्री भवनाथ, श्री नन्दीश्वर** तथा **रामानुज** आचार्य प्रमुख हैं।

लघ्वी और बृहती की टीकाएं :- श्री शालिकानाथ ने मीमांसा शास्त्र पर ''मीमांसा जीव रक्षा'' तथा 'वाक्यार्थ मातृ का वृत्ति' नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन्होंने 'प्रकरण पंचिका' नामक ग्रन्थ की रचना भी की है जिसमें प्रभाकर मिश्र की विचारधारा को प्रतिष्ठित करने का बहुत प्रयास किया गया है।

भवनाथ (या भवदेव) :- श्री शालिकानाथ ने मीमांसा के जिन सिद्धान्तों का अपने टीका और मौलिक ग्रन्थों में उल्लेख किया उनको स्पष्ट करने के लिये भवनाथ ने 'नयविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की हैं।

नयविवेक की टीकाएं :- भवनाथ के 'नयविवेक' नामक ग्रन्थ पर चार टीकाएं लिखी गयी है जो अधोलिखित है -

१. विवेक तत्त्व (रन्तिदेव द्वारा रचित)
२. नयविवेक दीपिका (वरदराज द्वारा रचित)
३. पंचिका (शंकरमिश्र द्वारा रचित)
४. नय विवेकालंकार (दामोदर द्वारा रचित)

इन टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रभाकर मिश्र के मत (गुरुमत) का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में श्री नन्दीश्वर द्वारा रचित **'प्रभाकर विजय'** तथा रामानुजाचार्य द्वारा रचित **'तन्त्र रहस्य'** नामक दो ग्रन्थ भी विद्यमान है। 'तन्त्र रहस्य' लघु ग्रन्थ है फिर भी प्रभाकर मिश्र के मन्तव्यों की जानकारी के लिये उपयोगी ग्रन्थ है।

मुरारि : मीमांसा के शाबरभाष्य पर 'मुरारि' ने भी व्याख्या लिखी है जो इस समय अनुपलब्ध है। मीमांसा के आचार्यों में 'मुरारि' का नाम प्रसिद्ध है। इसलिये इसके मत के विषय में मीमांसकों में प्रसिद्ध है **'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'** अर्थात् **पहला** भाट्ट मत **दूसरा** गुरुमत और **तीसरा** मुरारिमत। इन्होंने मीमांसा शास्त्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय-तृतीय और चतुर्थ पाद की व्याख्या **'त्रिपादी नीतिनयन'** नामक ग्रन्थ में की है जो अनुपलब्ध है।

गोविन्द स्वामी : शाबरभाष्य की व्याख्या गोविन्द स्वामी ने की है जो

''भाष्य विवरण'' के नाम से जानी जाती है।

नव्य मीमांसा : मीमांसा शास्त्र जैसे विशाल काय ग्रन्थ के पठन-पाठन की शिथिलता होने पर पूरे ग्रन्थ के पठन-पाठन के स्थान पर एक एक प्रकरण (अधिकरण) के पठन-पाठन और लेखन की परम्परा प्रारम्भ हो गयी। शास्त्र में विद्यमान प्रकरण से सम्बन्धित सूत्रों को जो विविध स्थानों पर पठित हैं उनको एक स्थान पर संकलित (एकत्रित) करके व्याख्या लिखी गयी। यह प्रक्रिया **नव्य मीमांसा** के नाम से जानी जाती है। जैसे पाणिनीय व्याकरण में अष्टाध्यायी के विविध स्थानों पर पढ़े गये एक विषयक सूत्रों को एक स्थान पर संकलित (एकत्रित) करके **संज्ञा प्रकरण, सन्धिकरण, समास प्रकरणादि** के पठन-पाठन हेतु नव्य व्याकरण के **लघु कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी** आदि ग्रन्थ लिखे गये, वैसे ही मीमांसा शास्त्र के अधिकरण (प्रकरण) के अनुसार ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई जो **नव्य मीमांसा** के नाम से जाने जाते हैं। नव्य मीमांसा विषयक ग्रन्थ अधोलिखित है।

१. शास्त्रदीपिका : इस ग्रन्थ की रचना श्री पार्थसारथि ने की है जो अत्यन्त क्लिष्ट है।

२. सिद्धान्त चन्द्रिका : श्री रामकृष्ण ने 'शास्त्र दीपिका' की व्याख्या लिखी जो सिद्धान्त चन्द्रिका के नाम से जानी जाती है। इसको ''युक्ति स्नेहपूरणी सिद्धान्त चन्द्रिका' भी कहते हैं।

३. कपूरवार्तिक : श्री सोमेश्वर ने शास्त्रदीपिका की व्याख्या ''कपूरवार्तिक'' नाम से लिखी।

४. मयूख मालिका : श्री सोमनाथ ने शास्त्रदीपिका की व्याख्या के लिये ''मयूख मालिका'' नाम की टीका लिखी।

५. प्रकाश : शास्त्रदीपिका की टीका श्री सुदर्शनाचार्य 'प्रकाश' नाम से लिखी।

६. जैमिनीय न्यायमाला : श्री माधवाचार्य ने नव्यमीमांसा शास्त्र के ग्रन्थ ''शास्त्रदीपिका'' की क्लिष्टता को ध्यान में रखकर पठनार्थी नव्य मीमांसा को सरलता पूर्वक समझ सके इसलिये पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष के रूप में श्लोकों में संक्षेप से ''जैमिनीय न्यायमाला'' के नाम से ग्रन्थ लिखा तथा इसकी व्याख्या ''जैमिनीय न्यायमाला विस्तर'' नाम से लिखी।

भाट्टदीपिका : शास्त्रदीपिका की तरह श्री खण्डदेव ने नव्य मीमांसादि पर

भाट्टदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की। इसकी व्याख्या श्री शम्भुभट्ट ने 'प्रभावली' के नाम से लिखी। अपनी व्याख्या में श्री शम्भुभट्ट ने कहीं कहीं खण्डदेव के मत का खण्डन भी किया है।

नव्य मीमांसा से सम्बन्धित विविध अधिकरणों (प्रकरणों) के लेकर अन्य ग्रन्थों की रचना भी हुई है जो अधोलिखित हैं।

१. प्रकरण पञ्जिका	२. मीमांसानु क्रमणी
३. विधि विवेक	४. नय विवेक
५. प्रभाकर विजय	६. भाट्ट चिन्तामणि
७. विधि रसायन	८. मीमांसा न्याय प्रकाश
९. अर्थ संग्रह	१०. मीमांसा परिभाषा

मीमांसा पर अन्य ग्रन्थ :- मीमांसा शास्त्र पर अन्य विद्वानों ने भी ग्रन्थ लिखे हैं जो अधोलिखित है।

१. **सेश्वर मीमांसा :** श्री वेंकटनाथ (अपरनाम वेदान्ताचार्य) ने मीमांसा शास्त्र पर एक वृत्ति लिखी जिसे "सेश्वर मीमांसा" कहते हैं।

२. **मीमांसा कौस्तुभ :** श्री खण्डदेव ने मीमांसा पर "मीमांसा कौस्तुभ" नाम से व्याख्या लिखी।

३. **कुतुहल वृत्ति :** श्री वासुदेव दीक्षित ने "कुतुहल वृत्ति" नाम से मीमांसा की व्याख्या लिखी।

४. **सुबोधिनी :** श्री रामेश्वर सूरि ने मीमांसा सूत्रों की व्याख्या-"सुबोधिनी" नाम से लिखी है।

५. **मानमेदोदय :** श्री नारायण रचित है।

६. **मीमांसा बाल प्रकाश,** ७. **विधि रसायन दूषण** और ८. **राणकोज्जीवनी** श्री शंकर भट्ट रचित है।

मीमांसानुसार प्रमाण :- प्रमाणों के द्वारा ही प्रमेय अर्थात् पदार्थ (विषय वस्तु) का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये प्रत्येक दर्शन (शास्त्र) में प्रमाणों का महत्त्व है तथा प्रमाणों का विवेचन भी किया गया है। **मीमांसा दर्शन** में भी प्रमाणों का वर्णन है, इसमें ६ प्रमाणों का उल्लेख है। १. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. उपमान ४. शब्द ५. अर्थापत्ति ६. अनुपलब्धि।

शब्द प्रमाण के दो भेद हैं। १. अपौरुषेय (वेद वाक्य) २. पौरुषेय (द्रष्टा या ऋषि वाक्य)

अर्थापत्ति के भी दो भेद हैं। १. दृष्टार्थापत्ति २. श्रुतार्थापत्ति

मीमांसा में वर्णित पदार्थ :- मीमांसा दर्शन में किन किन पदार्थों का वर्णन किया गया है इस विषय में मतभेद हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार द्रव्य-गुण-कर्म सामान्य और अभाव इन पदार्थों का वर्णन है जबकि प्रभाकर मिश्र का मत है कि द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-परतन्त्रता-शक्ति-सादृश्य-सन्ध्या इन आठ पदार्थों का वर्णन है। मुरारि के अनुसार ब्रह्म-धर्मिविशेष-धर्मविशेष-आधारविशेष तथा प्रदेश विशेष इन पांच पदार्थों का वर्णन है। संसार किन तत्त्वों से बना है। जीवात्मा शरीर से कर्मों को करता है और इससे ही कर्मों का फल भोगता है। (**भोगायतनं शरीरम्**) कर्मफल भोगने के साधन ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां हैं। कर्मों के फलोपभोग की व्यवस्था अदृष्ट शक्ति (ब्रह्म) द्वारा होती है जिसका उपदेश वेदों में दिया गया है जो अपौरुषेय शब्द प्रमाण है इत्यादि विषयों का वर्णन मीमांसा शास्त्र में किया गया है।

सेश्वरवादी और निरीश्वरवादी मामांसा :- बौद्ध और जैन दर्शन नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि ये दोनों ही वेद के प्रमाण को नहीं मानते हैं। (**नास्तिको वेदनिन्दकः ....मनु.**) जो वेद को नहीं मानते और वेद परमात्मा की वाणी है। इसलिये परमात्मा को भी नहीं मानते हैं इस कारण इनको नास्तिक कहा जाता है। जैन और बौद्ध दार्शनिक विद्वानों के द्वारा उपस्थित जटिल प्रश्न एवं तर्कों के समक्ष कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्रादि विद्वान् ईश्वर का अस्तित्व या सृष्टिकर्ता ईश्वर है यह सिद्ध नहीं कर सके और केवल वेद वाक्यों की ऊहापोह एवं याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में आये हुए विरोधों (मतभेदों) को दूर करने में ही प्रयत्न करते रहे इसलिये कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्रादि मीमांसा के भाष्यकार निरीश्वरवादी प्रसिद्ध हुए तथा इनके साथ साथ यह भी प्रसिद्ध हो गया कि मीमांसा निरीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक दर्शन है। जबकि मीमांसा के रचयिता जैमिनि मुनि सेश्वरवादी अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व और उसके ज्ञान वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख भी उन्होंने सूत्रों में किया है।

आर्य विद्वानों का कार्य :- मीमांसा दर्शन के छः अध्यायों का भाष्य **पं. आर्य मुनि जी** ने किया था जो लाहौर से विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ था। मूल मीमांसा दर्शन (मीमांसा सूत्र) **श्री कृपा राम शर्मा** (स्वा. दर्शनानन्दजी सरस्वती) ने विक्रम संवत् १९४६ में अपने प्रेस तिमिर नाशक

यन्त्रालय से प्रकाशित किया था। **पं. तुलसी राम स्वामी** मीमांसा के २५ सूत्रों का ही भाष्य कर सके। तत्पश्चात् उनका देहान्त हो गया। पं. देवदत्त शर्मा ने मीमांसा के तीन अध्याय पर्यन्त भाष्य किया। **पं. गोकुलचन्द्र दीक्षित** ने भी मीमांसा के तृतीय अध्याय के आठवे पाद पर्यन्त ही व्याख्या लिखी। मीमांसा पर श्लाघनीय कार्य **महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक** ने मीमांसा के शाबरभाष्य की हिन्दी मे अनुवाद करते हुए शाबरभाष्य की व्याख्या "आर्षमत विमर्शिनी" के नाम से की है जिसमें शबरस्वामी के भाष्य की समीक्षा करते हुए मीमांसा के विषय में विद्यमान विविध आक्षेपों का समाधान करते मीमांसा सूत्रों (मूल मीमांसा दर्शन) और जैमिनि मुनि की यशस्विता को गौरवान्वित किया है। यह ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत (हरि.) से विक्रम संवत् २०३४ में प्रकाशित हो चुका है। मीमांसा दर्शन (के शाबरभाष्य का) हिन्दी अनुवाद **पं. गंगाप्रसादजी उपाध्याय** ने भी किया है। मीमांसा दर्शन में विद्यमान विषयों को अवगत कराने के लिये **श्री गंगाप्रसादजी उपाध्याय** ने "मीमांसा प्रदीप" नामक ग्रन्थ भी लिखा है। मीमांसा दर्शन के सूत्रों का हिन्दी में शब्दानुवाद (संक्षिप्त व्याख्या) **स्वामी जगदीश्वरानन्दजी** ने की है। जो गोविन्दराम हासानन्द से प्रकाशित है। पं. मायाशंकर शर्मा ने मीमांसा का गुजराती में भाष्य किया है जो दो खण्डों में विक्रम संवत् २००८ में जो नारणजी पुरुषोत्तम ट्रस्ट मुम्बई से प्रकाशित हुआ है। पं. मायाशंकर शर्मा के गुजराती भाष्य के अध्याय ७ से १२ अध्याय का हिन्दी में अनुवाद **डा. भवानीलाल भारतीय** ने किया है जो हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर से प्रकाशित हुआ है।

***

प्रमाण

१. *तदिदं विंशत्यध्याय निबद्ध मीमांसा शास्त्रम्। तत्र षोडशाध्याय निबद्धं पूर्व मीमांसा शास्त्रं पूर्व काण्डस्य धर्म विचार परायणं जैमिनि कृतम्। तदन्यदध्याय चतुष्कम उत्तरमीमांसा शास्त्रम्। उत्तर काण्डस्य ब्रह्मविचार परायणं व्यास कृतम्॥ (प्रपञ्च हृदय पृ. ३८-३९)*

२. *ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसा प्रोवाच सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय स च वसिष्ठाय, सोऽपि पराशराय पराशरः कृष्ण द्वैपायनाय सोऽपि जैमिनये॥ (श्लोकवार्तिक टीका पृष्ठ ८)*

३. *धर्माख्यं विषयं.... मामांसायाः प्रयोजनम्॥ (श्लोकवार्तिक ११ वा श्लोक)*

४. *मीमांसा-शाबरभाष्य-शास्त्रावतार मीमांसा-पृष्ठ २२ (युधिष्ठिर मीमांसक रचित)*

५. *पुनराचार्येण शबर स्वामिना पूर्वमीमांसा शास्त्रस्य चतुर्विंशति सहस्त्रेरति संक्षेपेण कृतम्। (प्रपंच हृदय पृष्ठ ३९ पाठान्तर टि. ७)*

६. *इत एवाकृष्याचार्येण शबर स्वामिना प्रमाण लक्षणं वर्णितम्। वेदान्त ३-३-५३ शांकरभाष्य)*

मीमांसा दर्शन

प्रथम अध्याय

मीमांसा दर्शन पर लिखना एक अनधिकार चेष्टा है फिर भी इस शास्त्र में विद्यमान गम्भीर ज्ञान को प्राप्त करने की रूचि जागृत करने की भावना से ही इस विषय में लिखने का दु:साहस किया गया है। सुविज्ञ पाठक मेरी इस अनधिकार चेष्टा के लिये क्षमा करेंगे तथा सामान्य पाठक इस पुस्तक को मीमांसा दर्शन की भूमिका समझकर इसे पढ़कर इस शास्त्र में विद्यमान ज्ञान भण्डार को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। इसी आशा और विश्वास के साथ मीमांसा दर्शन पर लिखने का प्रयास किया है।

मीमांसा का तात्पर्य :- मीमांसा शब्द मान धातु से बना है जिसका अर्थ जिज्ञासा अर्थात् जानने की इच्छा होता है। किसी भी विषय के जानने की इच्छा होने पर मनुष्य उस विषय में विचार करता है, विचार करके उसको जानने का प्रयत्न करता है तथा उसे प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञान प्रयत्न और प्राप्ति (ज्ञान-कर्म-उपासना) ये तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान के बिना कर्म और उपासना में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती है तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिये भी मनुष्य को कर्म अर्थात् प्रयत्न करना ही पड़ता है। उपासना (प्राप्ति) भी ज्ञान न होने पर तथा बिना प्रयत्न (कर्म) के नहीं हो सकती है। इस तरह ये (ज्ञान-कर्म-उपासना) तीनों एक दूसरे के सहयोगी हैं।

शास्त्र रचना :- वेदों के अध्ययन अध्यापन की परम्परा के शिथिल होने के कारण कुछ अहंमन्य विद्वान् कर्म और उपासना को एक दूसरे का विरोधी समझने लगे और एक दूसरे को विरोधी सिद्ध करने के लिये अपनी अपनी मान्यताओं की अवैदिक व्याख्याएं करने लगे। ज्ञान काण्ड के अहंमन्य विद्वान् यज्ञादि कर्मकाण्ड को निरर्थक और याज्ञिक कर्मकाण्डी विद्वान् ज्ञान और उपासना को निरर्थक सिद्ध करने लगे। ऐसे भयानक विरोधात्मक समय में महर्षि जैमिनि और इनके गुरु महर्षि कृष्ण द्वैपायन (वेदव्यास) ने मिलकर पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) नामक दर्शन शास्त्र की रचना की।

एक ही मीमांसा शास्त्र :- प्रारम्भिक काल में पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा ये दोनों एक ही शास्त्र थे। पूर्व मीमांसा के १६ अध्याय और उत्तर

मीमांसा (वेदान्त) के चार अध्याय, इस तरह **बीस अध्याय** युक्त ये दोनों शास्त्र **मीमांसा शास्त्र** के नाम से जाने जाते थे। जैसा कि प्रपञ्च हृदय में लिखा है कि उन बीस अध्यायों में निबद्ध मीमांसा शास्त्र का **'कृतकोटि'** नाम का विपुल भाष्य बोधायन ने किया था) **"तस्य विंशत्यध्याय निबद्धस्य मीमांसा शास्त्रस्य कृतकोटि नामधेयं भाष्य बोधायनेन कृतम् ॥ (प्रपञ्च हृदय पृष्ठ ३९)** इस विषय में अनेक तर्क और प्रमाण देकर मीमांसा शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् स्व. पं. युधिष्ठरजी मीमांसक ने अपने मीमांसा शाबर भाष्य में स्पष्ट किया है कि पूर्वकाल में पूर्व और उत्तर मीमांसा **एक ही शास्त्र** था।

पूर्व और उत्तर दो शास्त्र :- इस समय **पूर्व मीमांसा** और **उत्तर मीमांसा** अर्थात् वेदान्त दर्शन के रूप में ये दो शास्त्र उपलब्ध हैं। पूर्व मीमांसा के रचयिता महर्षि जैमिनि हैं। इस शास्त्र के १६ अध्याय पर शबर स्वामी का **'शाबर भाष्य'** संस्कृत में मिलता है। शेष अध्याय १३ से १६ तक **ये चार अध्याय** संकर्ष या संकर्षण काण्ड के नाम से जाने जाते हैं जो बारह अध्याय युक्त मीमांसा दर्शन के परिशिष्ट के रूप में माने जाते हैं। इस प्रकार इसमें १६ अध्याय हैं। पूर्व मीमांसा के १२ अध्यायों में ६० पाद तथा २७३१ सूत्र है। यह शास्त्र पांचो दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त) से बड़ा है। पांचो दर्शनों की सूत्र संख्या से इस की सूत्र संख्या अधिक है।

मीमांसा दर्शन के **प्रथम अध्याय** में चार पाद हैं। इसमें १५० सूत्र हैं। इसका प्रारम्भ करते हुए महर्षि जैमिनि लिखते हैं कि अब धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए क्योकि धर्म अभ्युदय अर्थात्, लौकिक उन्नति और निःश्रेयस अर्थात् पारलौकिक उन्नति का साधन हैं[१]। शास्त्र का प्रारंभ **'अथ'** शब्द से करने की परम्परा प्राचीन काल में थी। उस समय सूत्रों में लिखे जाने वाले शास्त्र प्रायः **'अथ'** से ही प्रारंभ किये जाते थे। पाणिनीय व्याकरण का प्रारंभ भी **'अथ शब्दानुशासनम्'** सूत्र से किया गया है। 'अथ' शब्द का उच्चारण मांगलिक (कल्याण की) भावना से भी प्रयुक्त होता हैं। तत्पश्चात् 'अथ' शब्द इस समय या अब इस अर्थ में भी प्रयोग होने लगा।

शास्त्र अध्ययन की परम्परा :- वेदान्त और मीमांसा दर्शन की अध्ययन करने की परम्परा यह रही है कि **वेदान्त दर्शन** पढ़ने से पहले **ग्यारह उपनिषदों** को पढ़ लेना चाहिए, उनका **पारायण कर** लेना चाहिए। क्योंकि उनके उद्धरणों

का उल्लेख वेदान्त दर्शन में बार बार आता हैं। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन के अध्ययन से पहले **संहिता ग्रन्थों (वेदों) का पारायण (अध्ययन)** कर लेना चाहिए क्योंकि वेद मन्त्रो का उल्लेख विविध स्थलों पर मीमांसा शास्त्र में बार बार आता है। मीमांसा शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए ही शास्त्रकार ने लिखा है कि वेद मन्त्रों के अर्थ के ज्ञान के साथ यज्ञादि कर्मकाण्ड का प्रयोगात्मक ज्ञान भी आवश्यक हैं। इसीलिए प्रथम सूत्र में ही सूत्रकार अपनी भावना को स्पष्ट कर रहे हैं कि गुरुकुल में अध्ययन करके स्नातक बनने के बाद व्यक्ति गृहस्थ में प्रविष्ट होता है अतः **'वेदमधीत्य स्नायात्' (मनु ३-२)** वेद पढ़कर स्नातक बने और गृहस्थ में प्रविष्ट हो इस परम्परा का निर्वाह करता है।

धर्म का अर्थ :- प्रथम सूत्र में धर्म शब्द आया हैं। धर्म को जानना आवश्यक है जिससे कि धर्म का आचरण जीवन में ला सकें, उसी प्रकार अधर्म को जानना भी आवश्यक है जिससे अधर्म रूपी आचरण से अपने को दूरकर रख सकें, इसलिए विद्वानों की मान्यता हैं कि **'धर्म जिज्ञासा'** पद में धर्म शब्द अधर्म का भी उपलक्षण है अर्थात् उसका भी संकेत प्रथम सूत्र में दिया है। अगले सूत्र में धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा हैं कि वेद प्रतिपादित अर्थ को धर्म कहते हैं[२]। जिसके सुनने से प्रेरणा प्राप्त होती है उसे चोदना कहते हैं अर्थात् प्रवर्तक या प्रेरणात्मक वाक्य को चोदना कहा है। जिससे पदार्थ जाना जाता है, उसे लक्षण कहते हैं। जैसे जलते हुए घर में अग्नि नहीं दिखाई दे रही है और धूँआ दीख रहा हैं। तब धूँएं को देखकर अग्नि का ज्ञान होता हैं और मनुष्य यह अनुमान करता हैं कि जहाँ-जहाँ धुआं होता है वहां-वहां अग्नि होती हैं क्योंकि बिना अग्नि के धुआँ कहीं नहीं होता है। इसलिए अग्नि के ज्ञान का साधन या लक्षण धुंआँ हैं। इसी प्रकार चोदना-प्रेरणात्मक या प्रवर्तक वाक्य से जाना गया अर्थ धर्म हैं। अर्थ शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है जो सुख का साधन हो, जिससे सुख का आधिक्य हो तथा दुःख का कारण न हो उसे अर्थ कहते हैं अर्थात् जो इस जन्म में और पारलौकिक जीवन में सुख का साधन है जो शास्त्रप्रतिपादित है वह धर्म कहलाता हैं जिसमें दुःख लेशमात्र भी नहीं हैं।

धर्मज्ञान का साधन :- वेदादि शास्त्र प्रतिपादित अर्थ को धर्म कहते हैं। धर्म के यथार्थ ज्ञान के साधन क्या हैं, इस विषय में वेद वाक्य ही मुख्य प्रमाण है या प्रत्यक्ष अनुमानादि से निश्चय किया जा सकता है। इस विषय में विवेचन करने

के लिए सूत्रकार ने लिखा है कि चक्षु आदि इन्द्रियों का पदार्थों के साथ संयोग होने पर मनुष्य को जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं वह धर्म के ज्ञान में प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान विद्यमान पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से उत्पन्न होता हैं[३]। अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान होता हैं उसे **प्रत्यक्ष** कहते है। विद्यमान रूप-रसादि विषयों के साथ चक्षु रसना आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो ज्ञान होता हैं प्रत्यक्ष कहलाता है, किन्तु जो विषय विद्यमान नही हैं, अतीन्द्रिय है उनका ज्ञान प्रत्यक्ष मूलक ही है, जैसे रसोई घर में अनेक बार देखा जाता है कि जहां धुआँ होता हैं वहां आग होती हैं अतः यह निश्चय किया जाता है कि जहां-जहां धुआँ है वहां-वहां अग्नि है **(यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः)** इसलिए किसी दूसरे स्थान पर अग्नि को न देखकर केवल धुएं को देखकर ही **अनुमान** करते हैं कि यहाँ धुआँ निकल रहा है तो निश्चित ही अग्नि है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण का आधार भी एक तरह से प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। इसलिये प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का आधार भी एक तरह से प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। इसलिये प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता है। धर्म का स्वरूप आत्मा-मोक्ष, स्वर्ग आदि के विषय में वेद ही प्रमाण क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है।

वेद की प्रामाणिकता :- वेद की प्रामाणिकता के विषय में शंका हो सकती है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है यह पुरुष बतलाता है कि जैसे पानी शब्द का अर्थ है जिस पदार्थ से प्यास बूझती है, स्नानादि करते हैं उस तरल द्रव्य को पानी कहते हैं। यह ज्ञान भी पुरुष के संकेत पर निर्भर करता है। मनुष्य को प्रत्यक्ष ज्ञान में कभी-कभी भ्रान्ति भी हो जाती है जैसे रस्सी को अन्धेरे में सांप समझ लेता है इसीलिए प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं कह सकते हैं उसे प्रामाणिक नहीं मानते हैं वैसे ही वेद वाक्य का यह अर्थ है कि यह ज्ञान भी निर्भ्रान्त ज्ञान है ऐसा नहीं कह सकते हैं इसलिए धर्म के विषय में वेद भी प्रमाण नहीं हैं। इसका **समाधान** करते हुए महर्षि जैमिनि ने अगले सूत्र में लिखा है किं वेद के प्रत्येक शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है इसलिए वेदवाक्य धर्म के यथार्थ ज्ञान का साधन है क्योंकि वह ईश्वर उपदिष्ट है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो ज्ञान नहीं होता उसका भी ज्ञान वेद के द्वारा होता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वेद का विरोध दिखाई नहीं देता है। आचार्य बादरायण के मत में वेद

वाक्य अपने प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से धर्म में स्वतः प्रमाण है[४]।

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण :- मनुष्य अल्पज्ञ है उसके ज्ञान प्राप्ति के साधन चक्षु आदि इन्द्रियों में विकृति होने के कारण या पदार्थ दूर स्थित होने या अन्धेरादि होने से यथार्थ ज्ञान में भ्रान्ति हो सकती है इसलिए अन्धेरे में टेढ़ी पड़ी हुई रस्सी देखकर मनुष्य को सन्देह हो जाता है कि यह रस्सी है या सर्प है।

घर में आग लगने पर दूर से उठते धूएं को देखकर मनुष्य अनुमान करता है कि घर में धुआँ निकल रहा हैं तो यहां आग लगी है किन्तु जब तक अग्नि को देख नहीं लेता तब-तक उसे सन्देह बना ही रहता हैं कि आग लगी है या नहीं। आग होने का पूर्ण निश्चय उसे अग्नि के देखने से ही होता है।

वेद स्वतः प्रमाण :- प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के समान धर्म अधर्म आदि के यथार्थ ज्ञान के लिए शब्द प्रमाण भी किसी अन्य की अपेक्षा रखता है ? इस विषय में मीमांसा शास्त्र के रचयिता ने आचार्य बादरायण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि धर्म अधर्म आदि के विषय में यथार्थ ज्ञान के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नहीं हैं। इस विषय में वेद परम प्रमाण है। वेद अपने आप में स्वतःही प्रमाण है। **वेद का उपदेष्टा परम आप्त परमेश्वर है। वह सर्वज्ञ है** अतः **उसका ज्ञान भी संशय, सन्देह और भ्रान्ति से रहित है।** इसलिए वेदवाक्य अपौरुषेय होने से निर्भ्रान्त है, धर्माधर्म आदि के ज्ञान के लिए ही वेद वाक्य प्रमाणिक है। इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे प्रमाणं की आवश्यकता नहीं है। जैसे अन्धेरे में रखी हुई किसी वस्तु को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है किन्तु दिन में जब सूर्य दीखता है तब सूर्य को दिखाने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि सूर्य तो अपने आप ही दीख रहा है अतः वह **स्वतः प्रमाण** है अपने अस्तित्व को बतलाने के लिये उसे किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है। वैसे ही वेद की प्रामाणिकता के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है वह तो अपौरुषेय होने से परमात्मा का ज्ञान होने से पूर्ण निर्भ्रान्त है अतः स्वतः प्रमाण है तथा वेदों के अनुकूल होने से अन्य शास्त्र भी प्रामाणिक है और वेदों के प्रतिकूल होने से अन्य शास्त्र अप्रामाणिक हैं इसलिए अन्य शास्त्रों की प्रामाणिकता के लिये कहा जाता है कि वेद से अतिरिक्त सभी शास्त्र **परतः प्रमाण** है।

सृष्टि निर्माण और वेद ज्ञान :- बादरायण ने वेदान्त दर्शन में वेद को स्पष्ट प्रमाण मानते हुए लिखा है ब्रह्म सृष्टि की उपत्ति, स्थिति अर्थात् प्राणियों का भरण, पोषण और प्रलय करता है। अर्थात् - परमात्मा इस संसार का बनानेवाला है और वही वेद का ज्ञान प्रदाता है[५]। परमेश्वर सृष्टि का निर्माता भी है और सृष्टि में विद्यमान नियमों का ज्ञान भी 'वेदों' के माध्यम से करानेवाला है। इसलिए वेद धर्म-अधर्मादि के विषय में परम प्रमाण हैं तथा ईश्वरीय ज्ञान होने से निर्भ्रान्त है। ऋषि-मुनियों के रचित आर्ष ग्रन्थ वेदानुकूल होने पर ही प्रामाणिक तथा वेदों के प्रतिकूल होने पर ऋषिप्रणीत आर्ष ग्रन्थ भी प्रामाणिक नहीं है। उनका प्रमाण्य स्वीकार्य नहीं है, यह इस विवेचन से स्पष्ट होता है।

शब्द का अनित्यत्व :- वेद के नित्यत्व को सिद्ध करने से पहले शास्त्रकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि शब्द नित्य है। जो लोग शब्द को नित्य नहीं मानते हैं उनके मत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि-कोई कोई आचार्य शब्द को कार्य मानते है क्योंकि शब्दों में प्रयत्न पाया जाता है[६]। सामान्य नियम है कि, जो वस्तु प्रयत्न साध्य होती है वह अनित्य होती है। यत्न करने से होती है अतः यत्न से पहले नहीं थी और जो वस्तु बनती है वह नष्ट भी होती है। वैसे ही शब्द उच्चारण के द्वारा व्यक्त होता है इसलिए शब्द का उच्चारण के द्वारा प्रकट होना ही उसका अनित्यत्व सिद्ध करता है। ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं यह शास्त्रकार ने कहा है। शब्द की अनित्यता में दूसरा कारण देते हुए जैमिनि ने पुनः लिखा है कि-स्थिर न होने से भी शब्द अनित्य है[७]। अर्थात् जो पदार्थ नित्य होता है, वह स्थायी होता है, शब्द उच्चारण करने से पहले नहीं था और उच्चारण करने के बाद भी नहीं रहता है इसलिये शब्द स्थिर न रहने के कारण शब्द अनित्य है[८]। दो शब्दों के पास-पास आने पर उनके स्वरों में परिवर्तन हो जाता है जैसे, यदि + अपि=यद्यपि यहां पर दि में विद्यमान 'इ' के स्थान 'य्' हो जाता है, इसे प्रकृति-विकृति भाव कहते हैं अतः एक अक्षर का लोप होना और दूसरे का आना यह सिद्ध करता है कि शब्द अनित्य है।

शब्द नित्य है :- शब्द के अनित्यत्व का खण्डन करके शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने अनेक सूत्र इस प्रसंग में दिये हैं। जैसे शब्द तो नित्य है अनित्य नहीं है क्योंकि शब्द का उच्चारण तो श्रोता अर्थात् सुननेवाले व्यक्ति के ज्ञान के लिए किया जाता है[९]। शब्द के द्वारा श्रोता को अर्थ का ज्ञान हो इसीलिये

शब्द का उच्चारण किया जाता है। यदि शब्द अनित्य हो और तुरन्त नष्ट हो जाय तो अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, फिर शब्द के उच्चारण करने का क्या लाभ है ? शब्दोच्चारण से अर्थ का ज्ञान होता है इसी से सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है।

वेदों का नित्यत्व :- वेदों की प्रामाणिकता और शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने के पश्चात् सूत्रकार ने वेदों के नित्यत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि वेदों में शब्द के नित्य होने का चिह्न पाया जाता है अतः वेद के शब्द नित्य है[१०]। परमेश्वर नित्य है उसका ज्ञान भी नित्य है क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ज्ञान पूर्ण है, उसमें किसी भी प्रकार की अपूर्णता न्यूनता नहीं है इसलिए ईश्वरीय ज्ञान वेद में कोई परिवर्तन नहीं होता है अपरिवर्तित होने से वेद ज्ञान नित्य है। ऋग्वेद में वाणी (शब्द) को स्पष्ट ही नित्य कहा है जैसे **वाचा विरूप नित्यया ..** ऋग्वेद ८-७५-६ के इस मन्त्र से स्पष्ट होता है शब्द नित्य हैं।

परमात्मा गुरुओं का गुरु :- वेदों के शब्द नित्य हैं तो जो वेदमन्त्रों में ऋषि मुनियों के नामों का वर्णन आता है। उन ऋषि मुनियों का जन्म होता है और उनकी मृत्यु भी होती है तो क्या वेदों में अनित्य व्यक्तियों का वर्णन है ?अनित्य व्यक्तियों का वर्णन होने से वेद ज्ञान को नित्य कैसे माना जा सकता है ? यह **शंका** उपस्थित होती है उसका **समाधान** करते हुए लिखा है कि वेद शब्द रूप में नित्य हैं यह हम पहले भी कह चुके हैं[११]। अर्थात् शिष्य गुरु से वेद का अध्ययन करता है ऐसी गुरु शिष्य परम्परा से आदि काल से वेद का अध्ययन अध्यापन चला आ रहा है। इस प्रकार वेदाध्ययन परम्परा अनादि होने से वेद का प्रथम प्रवक्ता परमात्मा होने से वेद नित्य है जैसा योगदर्शन में भी महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है कि वह परमात्मा गुरुजनों का भी गुरु हैं[१२]।

ऋषि मन्त्रद्रष्टा और प्रवचनकर्ता :- वेद मन्त्रों में ऋषि मुनियों के नामों का उल्लेख क्यों पाया जाता है ? इसको स्पष्ट करते हुए जैमिनि ने लिखा है कि वेद मन्त्रों में जिन नामों का उल्लेख पाया जाता है वे किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं अपितु सामान्य शब्द मात्र हैं। क्योंकि वेद के शब्दों को ही लेकर लौकिक पदार्थों और व्यक्तियों के नाम रखे गये हैं। ऐसा प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। जिन ऋषि मुनियों ने वेदमन्त्रों का अध्ययन अध्यापन किया वेदमन्त्रों में विद्यमान गम्भीर ज्ञान भण्डार को स्पष्ट करके मनुष्यों को समझाया है। इसलिये वे

मन्त्र उन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हो गये है। इसलिये ऋषि वेद मन्त्र के रचयिता नहीं अपितु वेदमन्त्रों के प्रवचन कर्ता हुए है इस कारण उन ऋषियों का उल्लेख पाया जाता है[१४]। अर्थात् जिस ऋषि ने वेद की जिस शाखा का अध्यापन किया, प्रचार किया उसके नाम से वेद की वह शाखा प्रसिद्ध हो गयी। कठ नाम के जिस ऋषि ने जिस शाखा का प्रवचन किया वह वेद की कठ शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है। इसी प्रकार मैत्रायणी तैत्तिरीयादि शाखाएं प्रचलित हुईं। इन शाखाओं के प्रवचन-अध्यापन करानेवाले ये ऋषि-मुनि थे जिनके नामों से ये शाखाएं प्रसिद्ध एवं प्रचलित हो गयीं।

अर्थ ज्ञान का कारण :- वेद के नित्यत्व को लेकर इस प्रकरण का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक शंका प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जैसे लोक में वृद्ध व्यवहार से शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है, कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, **पानी शब्द का अर्थ** ऐसा तरल द्रव्य है जिससे प्यास बूझती है, **अग्नि शब्द का अर्थ** जलानेवाला पदार्थ है। इसी प्रकार गाय-घोड़ा आदि शब्दों का अर्थ प्राणि विशेष है यह ज्ञान मनुष्य माता-पिता आदि वृद्ध जनों से प्राप्त करता है। वैसे वेद में अमुक शब्द का अर्थ क्या है, यह कैसे जाना जाता है ? इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जैसे **लोक में वृद्ध व्यवहार** से शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है वैसे ही **वेद में भी गुरु परम्परा से** इस शब्द का यह अर्थ है यह ज्ञान होता है[१५]।

अर्थात् लोक में वृद्धों के द्वारा प्रयोग किये जानेवाले शब्दों से उनके अर्थों का ज्ञान हो जाता है[१६]। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'गाय को लाओ, घोड़े को ले जाओ। तब इसको एक बालक देखता है कि एक प्राणी विशेष को यह व्यक्ति ला रहा है जिसे गाय कहा जाता है वैसे ही इस प्राणी विशेष को यह व्यक्ति ले जा रहा है इसे 'घोड़ा' कहते हैं, इसे वृद्ध व्यवहार कहते हैं। और इससे मनुष्य शब्द के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है।

प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ होता है किन्तु सार्थक शब्दों के समुदाय से जब वाक्य बनता है तो वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे होता है इस विषय में शास्त्रकारों की मान्यता है। वाक्यार्थ बोध के चार कारण हैं-

१. **आकांक्षा** - अर्थात् वाक्य रचना ऐसी हो जिसमें एक शब्द दूसरे शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये आकांक्षा रखता है।

२ **योग्यता :-** उच्चारित किये जानेवाले शब्द में अपने अभिमत अर्थ की प्रतीति करने की क्षमता को योग्यता कहते हैं। जैसे वह जल से सींचता है। इस वाक्य में आये हुए जल शब्द में सींचने की क्षमता अर्थात् योग्यता है। इसलिये वाक्यार्थ बोध में पदों की योग्यता भी अनिवार्य है। यदि कोई कहे कि वह अग्नि से सींचता है, तो वह वाक्यार्थ ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि नामक पदार्थ में सींचने की योग्यता नहीं है।

३. **आसत्ति :-** जिस पद के साथ जिस पद का सम्बन्ध है उस पद का उसके समीप होने को आसत्ति कहते हैं।

४. **तात्पर्य :-** जिस विचार से प्रेरित होकर वक्ता जिन पदों का अर्थात् शब्दों का उच्चारण करता है उसे तात्पर्य कहते हैं।

लौकिक वाक्यों से अर्थबोध, आकांक्षा, योग्यतादि के द्वारा होता है वैसे वेदमन्त्रों का अर्थ गुरुपरम्परा के द्वारा पदों की योग्यता आकांक्षादि के अनुसार होता है। वेद वाक्य अपौरुषेय होने से और शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होने के कारण अतीन्द्रिय अर्थ का बोध करने में समर्थ होते हैं। इसलिये वेदार्थ बोध में कोई कठिनाई नहीं है।

वेदों का प्रामाण्याप्रामाण्य :- वेदों के नित्यानित्य और प्रामाण्याप्रामाण्य का विवेचन करते हुए प्रथमपाद के अन्त में सूत्रकार ने इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वेदार्थ बोध वृद्धव्यवहार के समान गुरु परम्परा से होता है। वेद में किसी जन्म मरण वाले व्यक्ति विशेष का कोई वर्णन नहीं है किन्तु यदि किसी वेदमन्त्र में किसी शब्द का असम्भव लगनेवाला अर्थ प्रतीत होने लगे तो उसके प्रमाण्याप्रमाण्य के विषय का शास्त्रीय सिद्धांत है जैसे **"वसन्तो अस्यासीदाज्यम् .. (यजु.)** मन्त्र में वसन्त ऋतु को घृत लिखा है। इसका समाधान करते हुए लिखा है क्योंकि उस प्रकरण में यज्ञरूप कर्म का सम्बन्ध पाया जाता है। अतः वेद सर्वथा स्वतः प्रमाण है[१७]।

वेदमन्त्रों में जहां भी अटपटा सा अर्थ प्रतीत होवे वहां पर पूरे प्रकरण का अध्ययन व चिन्तन किया जाय तो मन्त्रार्थ स्पष्ट हो जाता है। जिस मन्त्र का उद्धरण देकर शंका प्रस्तुत की गयी है। वहां वास्तव में ऐसा अर्थ नहीं है कि वसन्त ऋतु घृत है वसन्त ऋतु में पेड़ पौधे वनस्पति फसलादि में रस भर जाता है वैसे ही रसोत्पादक वसन्त ऋतु के समान रसयुक्त सुगन्धित द्रव्य जो घृत है उससे

यज्ञ करना चाहिये। यज्ञ रूप कर्म का विनियोग उस प्रकरण में है उसकी प्रेरणा वहां पर दी गयी हैं। इस तरह ऐसे वेदवाक्यों का विनियोग यज्ञादि कर्मों के साथ होता है। वेद मन्त्रों में कोई असम्भव लगनेवाला अर्थ नहीं है। यदि अर्थ समझ में न आये तो इसमें वेद का कोई दोष नहीं है अपितु वेद को न समझनेवाले व्यक्ति की बुद्धि की न्यूनता है[१८]। वेद अपौरुषेय होने से पूर्ण निभ्रान्त एवं नित्य है। यह महर्षि जैमिनि ने इस प्रकरण में स्पष्ट किया है।

स्वतः और परतः प्रमाण :- मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में विद्यमान धर्म का अर्थ तथा धर्म के निर्णय में वेद स्वतः प्रमाण है। यह वर्णन किया गया है। द्वितीय पाद में वेदों की प्रामाणिकता के विषय में विविध शंकाओं को उपस्थित करके उनका समाधान करते हुए स्पष्ट किया है कि वेद ही धर्म के विषय में परम प्रमाण हैं और वेदानुकूल ऋषि मुनियों के रचित ग्रन्थ प्रामाणिक हैं। वेदों के प्रतिकूल होने पर ऋषिप्रणीत ग्रन्थ भी प्रामाणिक नहीं हैं। इसलिये वेद से अतिरिक्त आर्ष ग्रन्थ (ऋषि मुनियों के रचित ग्रन्थ) परतः प्रमाण हैं।

वेद की अप्रामाणिकता में हेतु :- द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में शंका उपस्थित करते हुए लिखा है कि वेद कर्तव्य कर्म का बोध कराने वाले हैं इसलिए जो वेद वाक्य अर्थात् वेद मन्त्र कर्तव्य का ज्ञान नहीं कराते हैं वे **निरर्थक** हैं। इस कारण वेद धर्म के ज्ञान में अप्रमाण कहे जाते हैं[१९]। मनुष्य को अपने जीवन में क्या कर्म करना चाहिये इसका आदेश परमात्मा ने वेदों में दिया है इसलिये **वेदवाक्य प्रामाणिक** हैं किन्तु जिन वेद मन्त्रों में कर्तव्य कर्म का उपदेश नहीं हैं, प्रामाणिक नहीं हैं जैसे विश्वतश्चक्षु.... ऋ. ८-३-१६ मन्त्र में परमात्मा का वर्णन है कि उसके सब ओर चक्षु (नेत्र) हैं सब ओर उसका मुख है सब तरफ जिसके हाथ हैं इत्यादि। यह वेदमन्त्र कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान नहीं कराता है। इसलिए यह **अप्रामाणिक है** यह शंका इस सूत्र द्वारा उपस्थित करके यह मान्यता रखी कि **वेदमन्त्र निरर्थक हैं।**

वेदों की **निरर्थकता में दूसरा हेतु** देते हुएं आगे लिखते हैं कि वेदवाक्य और प्रत्यक्ष में विरोध देखे जाने से वेद अनित्य एवं **अप्रामाणिक** हैं[२०]। वेद निरर्थक इसलिए हैं कि वेदमन्त्रों के अर्थ ऐसे लगते हैं जिनका लौकिक जगत् से विरोध दीखता है जैसे आंख छोटी है तथा सूर्य बहुत बड़ा है, पृथ्वी से भी १३

लाख गुना बड़ा सूर्य है। आंख से सूर्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ? किन्तु वेद में कहा है कि आंख से सूर्य उत्पन्न हुआ है[२१]। सूर्य का आंख से उत्पन्न होना प्रत्यक्ष में ही विरुद्ध लगता हैं इसलिए **वेदमन्त्र निरर्थक हैं यह शंका** प्रस्तुत की हैं।

वेदमन्त्रो की निरर्थकता के अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिन वेदमन्त्रों से शुभकर्मों को करने की प्रेरणा तथा अशुभकर्मों को न करने का उपदेश मिलता है। उन वेद मन्त्रों का तो शुभ कर्म में प्रवृत्ति और अशुभ कर्म से निवृत्ति का फल दीखता है किन्तु जिन वेदमन्त्रों के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का उपदेश नहीं दिया जाता है जो किसी विद्यमान वस्तु का ही वर्णन करते है उनका कोई ही फल नहीं होने से निरर्थक हैं[२२]। वेद में कहीं कर्मों की महत्ता का वर्णन किया गया है कि हे मनुष्य ! तू कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर अर्थात् कर्मों के द्वारा ही मुक्ति की प्राप्ति होने का उल्लेख हैं[२३]। वेद में कहीं अन्यत्र कर्म की प्रशंसा न करके ज्ञान की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि परमात्मा को जान करके मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है[२४]।इस प्रकार परस्पर विरोधी चर्चा होने से भी प्रतीत होता हैं कि वेदमन्त्र निरर्थक हैं[२५]।

जो वस्तु प्राप्त ही नहीं है उसका निषेध करना भी व्यर्थ सा लगता हैं। इस तरह जब परमात्मा का कोई आकारादि है ही नहीं तो फिर उसकी मूर्ति का निषेध करना व्यर्थ ही है जैसा कि वेद में लिखा है कि उस परमात्मा की मूर्ति नहीं है[२६]। परमात्मा सर्वव्यापक सर्वान्तिर्यामी होने से अमूर्त है तो उसकी मूर्ति का प्रश्न ही नहीं उठता फिर उसका निषेध क्यों किया गया ? वेदमन्त्रों में ऐसा निषेध करना भी प्रमाणित करता हैं कि वेद निरर्थक हैं[२७]। इस प्रकार वेद मन्त्रों की निरर्थकता में अनेक कारणों का उल्लेख करके यह **पूर्वपक्ष स्थापित किया है कि वेद निरर्थक हैं।**

वेदमन्त्र सार्थक एवं प्रामाणिक :- वेद मन्त्रों के निरर्थक और अप्रामाणिक विषयक शंकाओं का समाधान करते हुए महर्षि जैमिनि ने अगले सूत्रों में स्पष्ट किया है कि कोई भी वेदमन्त्र निरर्थक या अप्रामाणिक नहीं है अपितु सभी वेदवाक्य गम्भीर ज्ञान के भण्डार हैं। यह जो शंका प्रस्तुत की थी कि जिन वेदमन्त्रों में सिद्ध वस्तु का वर्णन है अर्थात् जो वेदमन्त्र विधि या निषेध का उल्लेख नहीं करते हैं वे प्रामाणिक नहीं है उसका **समाधान** करते हुए लिखा है कि सिद्ध वाक्य भी विधि वाक्य के पूरक एवं सहयोगी हैं। जैसे किसी वेदमन्त्र में यह

वर्णन आया है कि 'परमात्मा कि उपासना करनी चाहिये ?' वह परमात्मा कैसा हैं ? उसका स्वरूप कैसा है ? उसका समाधान परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करने वाले वेदमन्त्र **विश्वतश्चक्षु..** मन्त्र से किया है जिसे सिद्धवाक्य कहा गया है। यह सिद्धवाक्य (परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करनेवाला वेदमन्त्र) विधिवाक्य (परमात्मा की उपासना करनी चाहिये "आत्मानमुपासीत") का सहयोगी है, प्रशंसक, स्तुति करनेवाला है। इसलिये सिद्धवाक्य अर्थात् जिन वेदमन्त्रों में सिद्धवस्तु का या परमात्मा आदि का विवेचन है वे वेदमन्त्र निरर्थक नहीं हैं अपितु सार्थक ही हैं। यह स्पष्ट करते हुए महर्षि जैमिनि ने लिखा हैं कि विधिवाक्यों को पुरुष की प्रवृत्ति के लिये अपने अर्थ की स्तुति-प्रशंसा-महत्ता की अपेक्षा रहती है। उन विधिवाक्यों की स्तुति करनेवाले सिद्धवाक्य, विधिवाक्यों के साथ मिलकर एक वाक्यता को प्राप्त होकर स्तुति पूर्वक विधेय अर्थ का ज्ञान कराने से विधिवाक्य (विधि करनेवाले वेदमन्त्रों) के समान सिद्धवाक्य। (सिद्ध वस्तु का वर्णन या स्तुति प्रशंसा करनेवाले वेदमन्त्र) भी प्रामाणिक हैं[२८]।

सिद्ध वाक्य और विधिवाक्य प्रामाणिक :- सिद्धवाक्य भी विधिवाक्यों के समान ही प्रामाणिक हैं इस विषय में अन्य तर्क देते हुए अगले सूत्र में सूत्रकार ने लिखा है कि सृष्टि के आदिकाल से विधिवाक्य और सिद्धवाक्यों की गुरु परम्परा से प्राप्ति होने के कारण दोनों ही प्रकार के वाक्य समानरूप से प्रामाणिक हैं[२९]। जैसे गुरु परम्परा से शुभकर्म को करने की प्रेरणा देने वाले विधिवाक्यों का पठन पाठन होता आया है वैसे ही विधिवाक्यों की स्तुति करनेवाले सिद्धवाक्यों का भी पठन-पाठन होता रहा है इसलिये दोनों ही प्रकार के वाक्य प्रामाणिक हैं।

वेदमन्त्रों में अविरोध :- वेदमन्त्रों में परस्पर विरोधी अर्थ होने का जो आक्षेप किया जाता है वह भी निरर्थक है, वेदों में प्रत्यक्षरूप से कहीं भी विरोधी मान्यता का प्रतिपादन वेदमन्त्रों में नहीं किया गया हैं। यदि कहीं किसी को स्थूल रूप से विरोध दिखाई देता है तो वह वेदमन्त्र के मुख्य अर्थ को नहीं समझ पा रहा है। यह स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि स्थूल दृष्टि से समझे जानेवाले अर्थ से विरोध प्रतीत हो तो वह वाक्यार्थ अन्य अर्थ का बोध कराता है। वेदवाक्यों में परस्पर विरोध नहीं है[३०]। स्थूल अर्थ करने से **(चक्षोः सूर्यो अजायत। यजु.**

३२-१२) चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ यह प्रत्यक्ष विरोध प्रतीत होता हैं क्यों कि आंख से सूर्यादि विशाल पदार्थों का उत्पन्न होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हैं। किन्तु उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि परमात्मा की चक्षु (आंख) के समान ही उसके दिव्य सामर्थ्य से सूर्य उत्पन्न हुआ इस स्पष्ट अर्थ से कहीं भी वेदमन्त्रों में प्रत्यक्ष रूप से विरोध नहीं दीखता है[३१]। इस प्रकार वेदमन्त्रों में कही भी प्रत्यक्ष रूप से विरोध नहीं है।

परमात्मा के चक्षु के सदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्य उत्पन्न होता है यह अर्थ वेदमन्त्र का स्वीकार कर लिया जाय तो चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ **(चक्षोरजायत)** ऐसा क्यों कहा है ? ऐसी शंका का समाधान करते हुए लिखा हैं कि स्थूल रूप से देखने के कार्य से 'अजायत' क्रिया के कर्ता सूर्य का कार्य रूप से और चक्षु का कारण रूप ज्ञान होता है जब कि यथार्थ में ऐसा नहीं है कि सूर्य का कारण चक्षु हैं[३२]। अर्थात् चक्षु और सूर्य का आपस में न तो पिता-पुत्र सम्बन्ध हैं और नहीं कारण कार्य भाव सम्बन्ध है। (चक्षु सूर्य का कारण और सूर्य चक्षु का कार्य है ऐसा नहीं है।) अपितु परमात्मा ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी लोक लोकान्तरों का विधाता-निर्माता हैं[३३]।

परमात्मा का आलंकारिक वर्णन :- जहां कहीं परमात्मा के अंगों का वर्णन वेद मन्त्र में आता है वह यथार्थ रूप से नहीं है अपितु रूपक अलंकार के रूप में काव्य की भाषा में वर्णन आता हैं[३४]। जो कभी पुराना नहीं होता है और कभी नष्ट नहीं होता है, ऐसे काव्य को देखो[३५]। जैसे कवि किसी की वीरता की आलंकारिक भाषां में प्रशंसा करता हुआ कहता है कि यह पुरुष 'सिंह' है। अर्थात् सिंह (शेर) के समान वीर है। ऐसे ही वेदों में अनेक स्थानों पर आलंकारिक भाषा में वर्णन आता है[३६]। जिसे ठीक से न समझने के कारण मोटी बुद्धि के लोग व्यर्थ ही वेदों पर आक्षेप करते हैं कि वेदों में परमात्मा के शरीर का वर्णन है।

वेदमन्त्रों में अविरोध :- वेदों में परस्पर विरोधी मान्यताओं का उल्लेख है जैसे कहीं पर लिखा है कि ज्ञान से मुक्ति होती है और कहीं पर लिखा है कर्म से मुक्ति होती है इस शंका का **समाधान** करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि एक ही काल में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति हो और परमानन्द की प्राप्ति की इच्छा प्राणिमात्र को होती है[३७]। अर्थात प्रत्येक प्राणि मृत्यु से छुटकारा चाहता है और मुक्ति की

इच्छा रखता है इसलिये वेद मन्त्र "**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति...**" के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति का उपदेश देने के लिये मुक्ति का वर्णन किया है इस वेदमन्त्र में तो केवल ब्रह्मविद्या की प्रशंसा ही की गयी हैं[३८]। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति भी सभी कर सकते है। जैसे मृत्यु से बचने की इच्छा सभी को होती है वैसे ही मृत्यु से छूटने का उपाय ब्रह्मविद्या का मार्ग है और उसको प्राप्त करने का अधिकार भी सभी को है[३९]।

वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ करने से या अर्थ ज्ञान के बिना मात्र उच्चारण करने से ही पुण्य नहीं प्राप्त होता है अपितु मन्त्रों को अर्थसहित पढ़ने से पुण्य प्राप्त होता है। मंत्रों के अर्थों को जानने से ही वेदों में विद्यमान पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को जान सकता है।

मन्त्रों के ऋषि :- वेदमन्त्र का अर्थ सहित पठन पाठन होना चाहिये इस विषय में अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि वेद के सूक्तों के प्रारम्भ में या अध्यायादि के प्रारम्भ में जो ऋषियों के नामों का उल्लेख किया जाता है जिसका तात्पर्य होता है कि इन वेदमन्त्रों के अर्थों और वेदमन्त्र में विद्यमान गम्भीर भावों को मनुष्यों को समझाने का महान् कार्य ये ऋषि करते रहें हैं।' जिन्होंने अर्थसहित वेदमन्त्रों के पठन पाठन में अपना जीवन लगा दिया उनके उपकारों को स्मरण करने के लिये वेदमन्त्रों के प्रारम्भ में उन ऋषियों के नामों का उल्लेख किया हुआ है[४०]। इसलिए वेदमन्त्रों के प्रारम्भ में ऋषियों के नामोल्लेख से भी ज्ञात होता है कि वेदमन्त्रों का पठन पाठन अर्थसहित होता है।

वेदमन्त्रों का अर्थज्ञान :- वेदमन्त्रों का अध्ययन अर्थसहित करना चाहिये इसमें एक और हेतु का उल्लेख करते हुए महर्षि जैमिनि ने लिखा है कि **ज्ञान देनेवाला एक मात्र शास्त्र वेद** है इस लिए अर्थसहित वेद का पठन पाठन करना चाहिये[४१]। सृष्टि के प्रारम्भ से ही वेद मनुष्य को ज्ञान देनेवाला एक मात्र शास्त्र है। इसी के ज्ञान को प्राप्त करके ऋषियों ने अन्य आर्ष ग्रन्थों की रचना की। इसीलिए वेदमन्त्रों को अर्थसहित अध्ययन करना चाहिए जो लोग विना अर्थ ज्ञान के मात्र केवल कर्मकाण्ड में वेदमन्त्रों का विनियोग करते रहते हैं उन पर कटाक्ष करते हुए सूत्रकार ने उपरोक्त सूत्रों द्वारा स्पष्ट किया है कि अर्थसहित मन्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये।

अनावश्यक अर्थज्ञान :- वेदमन्त्रों का उपयोग केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड में विनियोग के रूप में ही होता है, अर्थसहित मन्त्रों के पठन पाठन की कोई आवश्यकता नहीं है इस मान्यता को ध्यान में रखते हुए, **शंका के रूप** में सूत्रकार ने लिखा है कि वेदों में अविद्यमान पदार्थों का वर्णन है इसलिए अविद्यमान वस्तुओं का कथन होने से अर्थसहित वेदों का पठन पाठन की कोई आवश्यकता नहीं हैं[४२]। जैसे वेद में आया है कि परमात्मा के हजार सिर, हजार आंखे और हजार पैर हैं[४३]। अर्थसहित वेदों का अध्ययन करना चाहिये इस विषय में ऐसा विधान करनेवाला कोई वेदमन्त्र या शास्त्रवचन नहीं मिलता है इसलिये वेदमन्त्रों का अर्थसहित पठन पाठन नहीं करना चाहिये[४४]।

अत्यावश्यक अर्थज्ञान :- वेद का स्वाध्याय अर्थसहित करना चाहिये इस विषय में आचार्य जैमिनि ने तर्क देते हुए लिखा है कि जैसे लोक में पूरा ग्रन्थ अर्थ सहित पढ़ने से मनुष्य को लाभ होता है, ग्रन्थ विद्यमान विषयों का ज्ञान होता है वैसे ही वेदों का अर्थसहित अध्ययन करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। क्योंकि लोक और वेद में वाक्यार्थ का ज्ञान समान रीति से होता है। जैसे लोक में किसी शब्द का अर्थ का ज्ञान उस शब्द में विद्यमान धातु और प्रत्यय से होता है वैसे ही वेदों के शब्दों का ज्ञान भी उनके प्रकृति (धातु) और प्रत्यय से होता है। इसलिये समान व्यवस्था होने से वेदों का अध्ययन अर्थसहित करना चाहिये[४५]। इस विषय में अन्य तर्क देते हुए लिखा है कि वेद अनन्त गुणवाले अर्थों से पूरित हैं वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं, इसलिये मनुष्यों को वेदों का अध्ययन अर्थसहित करना चाहिये[४६]।

शुभकर्मों को करने से सुख और अशुभ कर्मों का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है। शुभ कर्मों को करने की प्रेरणा तथा अशुभ कर्मों को नही करने का ज्ञान मनुष्य को अल्पज्ञ होने से स्वयं नहीं प्राप्त होता है अपितु सर्वज्ञ परमात्मा की ओर से वेदों के द्वारा मनुष्य को प्राप्त होता है इसलिये अर्थसहित वेदों का अध्ययन करना चाहिये, जिससे शुभकर्मों में प्रवृत्ति और अशुभकर्म से निवृत्ति हो सके। अतः अर्थ सहित वेदाध्ययन करना चाहिये[४७]।

मन्त्रों के विलक्षण अर्थ :- वेदमन्त्रों में अविद्यमान अर्थों का वर्णन है जैसे परमात्मा के हजार सिर, हजार आंखें और हजार पैर हैं इसलिये वेदों का

अर्थसहित अध्ययन नहीं करना चाहिये इस शंका का समाधान करते हुए लिखा हैं कि वेदमन्त्रों में लोक में अविद्यमान अर्थों का उल्लेख है ऐसा दोष उचित नहीं है क्योंकि अविद्यमान पदार्थों का वर्णन वेद में नही हैं जहां कहीं ऐसे विलक्षण अर्थ प्रतीत हाते हैं वे वैसे ही नहीं है जैसे स्थूल रूप से दीख रहे हैं, विलक्षण अर्थों का उल्लेख मनुष्य की बुद्धि को सुसंस्कृत करने के लिये किया गया है[४८]। सहस्त्रशीर्षा मन्त्र में सहस्त्र शब्द का अर्थ हजार नहीं अपितु अनन्त हैं अर्थात् परमात्मा प्रत्येक जीव के अन्दर विद्यमान हैं अतः परमात्मा जीवमात्र का अन्तरात्मा होने से अनन्त जीवात्माओं के अनन्त सिर, अनन्त आंखें और अनन्त पैर ही परमात्मा के अनन्त सिर, आंखें और पैर हैं।

अर्थसहित वेदाध्ययन :- द्वितीय पाद के अन्त में अर्थसहित वेदों के अध्ययन के विषय में अन्य कारण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि तर्क से भी यही सिद्ध होता है कि वेदों का पठन पाठन अर्थसहित होना चाहिये[४९]। विधिवाक्य का वर्णन भी यह संकेत देता है कि वेदों का अर्थसहित पठन पाठन होना चाहिये[५०]। जब तक मनुष्य को अर्थ का ज्ञान न हो तब तक अपने कर्तव्य कर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता है अर्थात् शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति और निवृत्ति की प्रेरणा अर्थसहित वेदों के अध्ययन से ही हो सकती है अतः अर्थसहित ही वेदों का अध्ययन करना चाहिये।

आर्षग्रन्थ परतः प्रमाण :- प्रथम पाद और द्वितीय पाद में वेदों को स्वतः प्रमाण मानने और वेदों का अर्थसहित अध्ययन करना चाहिये यह वर्णन किया गया है। अब तृतीय पाद में ऐतरेय-शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के अनुकूल होने पर प्रामाणिक हैं और वेदों के प्रतिकूल होने पर अप्रामाणिक हैं यह विवेचन किया गया है। इस पाद का प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि धर्म के विषय में केवल वेद ही प्रमाण है तो वेद से भिन्न ऐतरेयादि ब्राह्मण प्रमाण नहीं हो सकते हैं[५१]। इसका समाधान करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि धर्म में केवल वेद ही प्रमाण हैं इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वेद से भिन्न ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थ धर्म मे प्रमाण नहीं है किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि धर्म में केवल वेद स्वतः प्रमाण है तथा ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थ वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं तथा प्रतिकूल होने से अप्रमाण हैं। इसलिये वेद से अतिरिक्त आर्ष ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं[५२]।

परतः प्रमाण की यथार्थता :- वेद के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणादि आर्ष ग्रन्थ परतः प्रमाण क्यों है इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जिस अर्थ का वेद प्रतिपादन करते हैं यदि उससे विपरीत अर्थ का प्रतिपादन ब्राह्मणग्रन्थ करें तो वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के अनुकूल अर्थ का प्रतिपादन करें तो वह प्रामाणिक हैं[५३]। ब्राह्मण ग्रन्थ क्यों परतः प्रमाण है इसका हेतु लिखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण भी परतः प्रमाण हैं[५४]। जिसकी जो व्याख्या होती है वह उसके अनुसार होने से ही प्रमाणिक मानी जा सकती हैं। प्रतिकूल व्याख्या होने पर उसको कोई भी प्रामाणिक नहीं मानता है। इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्या ग्रन्थ होने से वेदानुकूल होने पर प्रामाणिक और प्रतिकूल होने पर अप्रामाणिक हैं और जो वाक्य वेद विरुद्ध हैं वे अप्रमाण हैं[५५]।

वेद के स्वतः प्रमाण का कारण :- ब्राह्मण ग्रन्थ वेदानुकूल होने पर प्रामाणिक और वेद के अनुकूल न होने पर प्रामाणिक नहीं है, तो वेद को इतना प्रमाण रूप में क्यों मानते हो, वेद स्वतः प्रमाण किस कारण से माने जाते हैं इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि **वेद ईश्वरोक्त होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं**[५६]। वेद में अन्यत्र भी लिखा है कि उस परमात्मा से ऋग्वेद-यजुर्वेदादि चारों वेद प्रकट हुए[५७]। वेदों में ही वर्णन मिलता हैं कि चारों वेद परमात्मा से प्रकट हुए हैं, इसलिये वेद स्वतः प्रमाण है। ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में ऐसा वर्णन नहीं मिलता कि ये परमात्मा से प्रकट हुए हैं अपितु यह वर्णन उपलब्ध हैं कि इतरा के पुत्र महीदास ऐतरेयादि के रचित ऐतरेय ब्राह्मण आदि वेद के व्याख्या ग्रन्थ हैं। व्याख्या ग्रन्थ होने से वेदानुकूल होने पर ही प्रामाणिक हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रामाणिकता :- ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रामाणिकता के विषय में एक और शंका इस प्रकरण में प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्मों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। किन्तु वेदों में सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्मों का इतना विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं अपितु संक्षेप में वर्णन है। वेद में विस्तृत वर्णन न होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान विस्तृत वर्णन भी प्रामाणिक नहीं मानना चाहिये। इसका **समाधान** करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में संध्या अग्निहोत्रादि कर्मों का विस्तृत वर्णन किया है वह

कपोल कल्पित नहीं है अपितु **वेदों के आधार पर ही किया गया हैं।** वेदों में जिन सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्मों का उल्लेख है उन्हीं की ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तृत व्याख्या है। विस्तार को व्याख्या कहते हैं। अतः जिन विषयों का वर्णन वेद में संक्षेप या संकेत मात्र में है उनकी व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में है अतः ब्राह्मण ग्रन्थ वेदानुकूल होने से प्रामाणिक हैं[५८]।

व्याकरण ज्ञान की आवश्यकता :- ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रामाणिकता का विवेचन करने के पश्चात् कल्पसूत्रों और स्मृति ग्रन्थों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का वर्णन करने के बाद शब्द के शुद्ध और अशुद्ध स्वरूप का विवेचन किया गया है। कौनसा शब्द साधु-शुद्ध है और कौनसा शब्द अशुद्ध-असाधु है यह व्याकरण के द्वारा ही स्पष्ट होता है इस विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि - **गौ शब्द** साधु-**शुद्ध** है और इसके स्थान पर प्रयोग किये जानेवाले **गावी गोणी** आदि शब्द **अशुद्ध**-असाधु हैं यह ज्ञान व्याकरण शास्त्र के द्वारा होता है, इसलिये धर्माधर्म के यथार्थ ज्ञान के लिये वेद-ब्राह्मण ग्रन्थों के समान व्याकरण शास्त्र का भी अध्ययन करना चाहिये[५९]। व्याकरण के अनुसार ही शब्द का प्रयोग न करने पर मनुष्य को पाप का भागी होना पड़ता है इसलिये शुद्ध शब्दों का प्रयोग करके पाप से बचना चाहिये, यह इस प्रसंग में उल्लेख किया है[६०]। इस तरह तृतीय पाद के अन्त तक शब्द के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया हैं।

प्रशंसात्मक वाक्य :- प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित कर्म का वर्णन किया गया है। "**अग्नि वैं ब्राह्मण**", "**इन्द्रो राजन्यः**", "**वैश्यो विश्वे देवाः**" इत्यादि स्थलों में अग्नि इन्द्रादि के गुणों का वर्णन किया गया है या ब्राह्मण-क्षत्रियादि की प्रशंसा में ये वाक्य कहे गये हैं। इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णों को जो अग्नि आदि कहा गया है वह उन वर्णों के विशेष गुणों के कारण से कहा गया है[६१]। अर्थात् पदार्थों को प्रकाशित करने का स्वाभाविक गुण जैसे अग्नि का है वैसे ही मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये वैदिक मान्यताओं को प्रकाशित करने का गुण ब्राह्मण का है। इसलिये उसे **अग्नि वैं ब्राह्मणः** कहा गया है। इसी समानता के कारण ब्राह्मण को अग्नि कहा है।

"**अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः**" अर्थात् गौ और अश्व (घोड़ा) से अतिरिक्त हाथी ऊँट, बकरी आदि सभी पशु नहीं है यह अर्थ है अथवा इस प्रकरण में गौ (गाय) अश्वः (घोड़ा) की प्रशंसा में ये वाक्य कहे गये हैं या अन्य पशुओं की निन्दा या निषेध में ये वाक्य कहे गये है। इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा हैं कि गौ और अश्व को छोड़कर अन्य अजा (बकरी) आदि अपशु है यह कथन गौ और अश्व की प्रशंसा के लिये कहे गये हैं अन्य पशुओं का निषेध के लिये इन वाक्यों का प्रयोग नहीं हुआ है[६२]। इसलिये अपशवो वा .... यह विधिवाक्य नहीं है।

सन्देह निवृत्ति :- इस पाद के अन्त में लिखा है कि जिन वाक्यों के अर्थ में सन्देह होता है उसकां निर्णय कैसे करना चाहियें ? इस विषय में लिखा है कि विधेय अर्थों में जब सन्देह हो तब उस सन्देह को वाक्यशेष से दूर करना चाहिये। सन्देह का निर्णय वाक्य शेष से होता है[६३]। इस प्रकार विस्तृत विवेचन इस पाद में किया है।

प्रमाण :

१. अथातो धर्म जिज्ञासा। (१-१-१) २. चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः। (१-१-२)
३. सत् सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि जन्मतत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ (१-१-४) ४. औत्पत्तिकस्तु शब्द स्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेक-श्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायण स्थानपेक्षत्वात्त ॥ (१-१-५)
५. जन्माद्यस्य यतः। शास्त्र योनित्वात् ॥ (वेदान्त १-१-२,३)
६. कर्मै के तत्र दर्शनात् ॥ (१-१-६) ७. अस्थानात्। (१-१-७)
८. प्रकृति विकृत्योश्च। (१-१-१०) ९. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥ (१-१-१८)
१०. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ (१-१-२४) ११. उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ (१-१-२९)
१२. पूर्वेषामपि गुरुःकाले नानवच्छेदात् ॥ (योग १-२६)
१३. परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ (१-१-३१) १४. आख्या प्रवचनात् ॥ (१-१-२९)
१५. लोके सन्नियमात् प्रयोग सन्निकर्षः स्यात् ॥ (१-१-२६)
१६. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवाऽऽदौ-पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ (मनु १-२१)
१७. कृते वा विनियोग स्यात् कर्मणस्सम्बन्धात्" ॥ (१-१-३२)
१८. नैष स्थाणोरपराधो, यदेनमन्धो न पश्यति। (निरुक्त)
१९. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते ॥ (१-२-१)

२०. शास्त्र दृष्ट विरोधाच्च ॥ (१-२-२) २१. चक्षोः सूर्यो अजायत ॥ (यजु. ३१-१२)
२२. तथाफलाभावात् ॥ (१-२-३) २३. कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेत् ..॥ (यजु. ४०-२)
२४. तमेव विदित्वा ...॥ (यजु. ३१-१८) २५. आनर्थक्यात् ॥ (१-२-४)
२६. न तस्य प्रतिमा अस्ति ॥ (यजु. ३२-३) २७. अभागि प्रतिषेधात् ॥ (१-२-५)
२८. विधिनात्वेक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥ (१-२-७)
२९. तुल्य चं साम्प्रदायिकम् ॥ (१-२-८)
३०. अप्राप्ता चानुपपत्ति प्रयोगेहि विरोधःस्यात्
शब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ (१-२-९)
३१. दूरभूयस्त्वात् ॥ (१-२-१२)
३२. अपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् ॥ (१-२-१३)
३३. सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत ॥ (ऋग्वेद)
३४. रूपात् प्रायात् ॥ (१-२-११)
३५. पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति...॥
३६. सहस्त्रशीर्षा पुरुष... ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्''... । (यजु. ३१-१-११)
३७. अकालिकेप्सा ॥ (१-२-१४) ३८. विद्या प्रशंसा ॥ (१-२-१५)
३९. सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥ (१-२-१६) ४०. वाक्य नियमात् ॥ (१-२-३२)
४१. बुद्धशास्त्रात् ॥ (१-२-३३) ४२. अविद्यमानवचनात् ॥ (१-२-३४)
४३. सहस्त्रशीर्षा पुरुषः..॥ (यजु. ३१-१) ४४. स्वाध्यायवदवचनात् ॥ (१-२-३७)
४५. अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ (१-२-४०) ४६. गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ (१-२-४१)
४७. परिसंख्या अविरुद्धं परम् ॥ (१-२-४२, ४४)
४८. संप्रैषेकर्मगर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥ (१-२-४५) ४९. ऊहः ॥ (१-२-५२)
५०. विधिशब्दाश्च ॥ (१-२-५३)
५१. धर्मस्य शब्द मूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥ (१-३-१)
५२. अपि वा कर्तृ सामान्यत् प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥ (१-३-२)
५३. विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥ (१-३-३)
५४. हेतुदर्शनाच्च ॥ (१-३-४)
५५. तेष्वदर्शनाद् विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥ (१-३-८)
५६. न शास्त्र परिमाणत्वात् ॥ (१-३-६)
५७. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः समानि...॥ (यजु. ३१/७)
५८. शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥ (१-३-९)
५९. तत्र तत्त्वमभियोग विशेषात् स्यात् ॥ (१-३-२७)
६०. शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥ (१-३-२५)
६१. प्रशंसा ॥ (१-४-२६)
६२. सन्दिग्धेषु वाक्य शेषात् ॥ (१-४-२९)

मीमांसा दर्शन

द्वितीय एवं तृतीय अध्याय

मीमांसा के **प्रथम अध्याय** में धर्म का स्वरूप तथा उसका ज्ञान वेद से होता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से **स्वतः प्रमाण** हैं तथा वेद के अतिरिक्त ब्राह्मणादि आर्ष ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं यह वर्णन करके अध्याय के अन्त में शब्द स्वरूप का ज्ञान व्याकरण से होता है यह विवेचन किया गया है।

अध्याय परिचय एवं सत्कर्म की प्रेरणा :- द्वितीय अध्याय में **चार पाद** एवं **१३९ सूत्र** हैं। प्रथम पाद में ४९ द्वितीय पाद में २९, तृतीय पाद में २९ तथा चतुर्थ पाद में ३२ सूत्र हैं। इस अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है कि जैसे सांसारिक जीवन में मनुष्य अपने वृद्ध जनों के आदेशानुसार शुभ कर्म करता हैं जिससे वह सुखी रहता है। उसी प्रकार वेदों में वर्णित यज्ञ-दान तपादि सत्कर्म जब मनुष्य करता है तो उसका फल उसे सुख के रूप में प्राप्त होता है। सत्कर्मों को करने की प्रेरणा वेदों में विद्यमान है ऐसा वर्णन करते हुए **द्वितीय अध्याय** के प्रथम सूत्र में आचार्य जैमिनि ने लिखा हैं कि वेदों में यज्ञ-दानादि कर्मों को करने की विधि प्रेरणा मिलती है जिनके द्वारा फल प्राप्त होता है[1]।

सार्थक और निरर्थक मन्त्र :- सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों के कल्याण के लिये परमेश्वर ने वेदों का ज्ञान दिया है। वेदों में अनेक मन्त्रों में सत्कर्मों के करने की प्रेरणा दी गयी है तथा अनेक मन्त्रों में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभावादि का तथा अन्य पदार्थों का भी वर्णन मिलता है। जिन मन्त्रों के द्वारा सत्कर्मों को करने की प्रेरणा प्राप्त होती है उनको दर्शन शास्त्र में "**विधि**" कहा जाता है तथा जिन मन्त्रों में ईश्वर जीव और प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन हैं उन्हें "**मन्त्र**" कहते हैं। महर्षि जैमिनि ने इस प्रसंग में **शंका** प्रस्तुत करते हुए लिखा हैं कि मनुष्य के कल्याण के लिये परमात्मा ने वेदों का उपदेश दिया है तो सत्कर्मों को करने से मनुष्य का कल्याण होता है जिनका फल उसे सुख के रूप में प्राप्त होता है अर्थात् सत्कर्मों को करने की प्रेरणा देनेवाले मन्त्र जिन को विधि कहा गया है वे वेदमन्त्र सार्थक हैं, उनकी उपयोगिता तो स्पष्ट ही समझ में आती है किन्तु जिन मन्त्रों में विद्यमान पदार्थों का वर्णन है उनसे क्या लाभ मनुष्य को होता है अर्थात् वेदों में ईश्वर जीव प्रकृति आदि का वर्णन करने वाले मन्त्र निरर्थक हैं[2]।

सभी मन्त्र सार्थक :- इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य को अपने कल्याण के लिये प्रकृति और प्रकृति से बने हुए भौतिक पदार्थों का तथा जीव और ईश्वर के गुण कर्म और स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। ईश्वर के गुण कर्म-स्वभाव को जानकर ही तो वह सत्कर्मों कौ करने के लिये प्रेरित होता है, अतः मन्त्र और विधि अर्थात् पदार्थों का वर्णन जिन मन्त्रों में किया गया है वे तथा सत्कर्मों की प्रेरणा जिन मन्त्रों में दी गयी है, ये दोनों ही प्रकार के मन्त्र सार्थक, महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं, कोई भी मन्त्र निरर्थक नहीं है[३]।

वेद और ब्राह्मण :- विधि अर्थात् सत्कर्मों को करने की प्रेरणा जिन वेद मन्त्रों से मिलती है तथा विद्यमान पदार्थों का वर्णन जिन वेदमन्त्रों में किया गया है इन दोनों ही प्रकार के वेद वाक्यों को मन्त्र कहते हैं। विधि अर्थात् सत्कर्मों की प्रेरणा यदि ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों में दी गयी है तो उन वाक्यों को मन्त्र नहीं कहते हैं। इसी प्रकार सिद्ध अर्थात् विद्यमान पदार्थों का वर्णन यदि किसी ब्राह्मण ग्रन्थ के वाक्य द्वारा किया गया है तो उसे भी **मन्त्र नहीं कहते हैं यह अगले सूत्र** से सूत्रकार ने **स्पष्ट किया है**[४]। वेद के व्याख्यान अवशिष्ट अंश होने के कारण ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या ग्रन्थ कहलाते हैं क्यों कि मन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। ऋग्वेद का **ऐतरेय** यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का **ताण्ड्य** तथा अथर्ववेद का **गोपथ ब्राह्मण** हैं। ये वेदमन्त्रों के अर्थों को स्पष्ट करते हैं। इसलिये इन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

वेदों के नाम एवं ऋग्वेद :- वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की भिन्नता का वर्णन करके वेदों के विभाग कितने हैं अर्थात् कौन कौन से वेद हैं इस विषय में लिखा है कि जिन मन्त्रों में छन्द शास्त्र के अनुसार पादों की व्यवस्था है उन मन्त्रों की **ऋक्** (ऋग्वेद) संज्ञा हैं[५]। अर्थात् जो मन्त्र छन्दों बद्ध हैं जिन मन्त्रों की पाद व्यवस्था पिंगलमुनि कृत छन्दशास्त्र के अनुसार हैं वे छन्दोबद्ध मन्त्र जिस वेद में हैं उसे ऋग्वेद कहते हैं। वेद में गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप आदि छन्द पाये जाते हैं। किस छन्द में कितने अक्षर और कितने पाद होते हैं इस का वर्णन छन्द शास्त्र में किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं हैं कि पहले छन्द शास्त्र बना और इसके बाद वेद बने हैं। अपितु वेदमन्त्रों में व्यवस्थित पाद और अक्षरों को देखकर छन्दों के नाम गायत्री त्रिष्टुप् अनुष्टुप् आदि रखे गये हैं। इस प्रकार व्यवस्थित अक्षर, पाद वाले मन्त्र जिसमें हैं उसे ऋग्वेद कहते हैं। जैसे २४ अक्षर (स्वर) जिसमें होते हैं

और उस मन्त्र का छन्द **गायत्री** होता है उसे **गायत्री मन्त्र** कहते हैं। जैसे विश्वानि देव सवित, र्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव॥

तत् सवितु वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्॥ आदि इस प्रकार के मन्त्रों की ऋक् संज्ञा होती है।

सामवेद :- सामवेद के विषय में लिखा है कि जिन मन्त्रों का गान किया जाता है। जो मन्त्र गाये जाते हैं उन मन्त्रों को साम कहते हैं[६]। अर्थात् सामवेद के मन्त्रों का गान किया जाता है। गान किये जानेवाले मन्त्रों का संकलन जिस वेद में हैं उसे सामवेद कहते हैं।

यजुर्वेद :- ऋग्वेद और सामवेद का उल्लेख करके यजुर्वेद के विषय में अगले सूत्र में लिखा है कि जो मन्त्र छन्दशास्त्र के अनुसार पादबद्ध नहीं हैं और जिनका गान नहीं किया जाता है उन मन्त्रों को यजुर्वेद कहते हैं[७]। छन्दोबद्ध मन्त्र ऋग्वेद में तथा जिनका गान किया जाता है वे सामवेद में तथा जो मन्त्र इन दोनों से अवशिष्ट हैं, बचे हुए हैं और उनका जहां संकलन किया गया है उसे यजुर्वेद कहते हैं।

अथर्ववेद :- ऋग्, यजु और सामवेद का वर्णन करने के बाद अथर्व वेद का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिन मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट है उनको निगद कहते हैं वही अथर्ववेद कहलाता है[८]।

यजुर्वेद और अथर्ववेद में भिन्नता :- छन्दोबद्ध मन्त्र ऋग्वेद में हैं तथा जिन मन्त्रों का गान किया जाता है वे मन्त्र सामवेद में हैं तथा इन से शेष मन्त्रों की यजु. संज्ञा का उल्लेख किया गया है तो यहां पर **शंका** उपस्थित होती है कि **अथर्ववेद (निगद) भी यजुर्वेद के अन्तर्गत** ही आता है या **यजुर्वेद से पृथक्** वेद है। इस शंका का समाधान उपरोक्त सूत्र में स्पष्ट किया है कि अथर्ववेद, यजुर्वेद से पृथक् है क्योंकि यजुर्वेद का धर्म भिन्न है और **अथर्ववेद का धर्म यजुर्वेद से भिन्न है।** इसलिये अथर्ववेद यजुर्वेद से भिन्न है। दोनों (यजुर्वेद और अथर्ववेद) के धर्मों की भिन्नता का वर्णन करते हुए लिखा हैं[९] कि अर्थात् यज्ञ में ऋचा का उच्चारण उपांशु अर्थात् कम ध्वनि से (ओष्ठो में) ही किया जाता है तथा निगद अथर्ववेद का उच्चारण उच्च ध्वनि से किया जाता है इसलिये धर्म भिन्न होने से अतः अथर्ववेद-यजुर्वेद से भिन्न है[१०]।

वाक्य का तात्पर्य :- जो मन्त्र पद्य में है छन्दोबद्ध हैं उनको ऋक् (ऋचा) कहते हैं जो ऋग्वेद में हैं। गद्य के रूप में जो मन्त्र हैं उन्हें यजु कहा जाता

है। यजुर्वेद में जो मन्त्र गद्य के रूप में हैं " उनमें कहां तक एक वाक्य बनता है" जो अर्थबोध कराता हैं, इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि" जिन क्रिया और कारक पदों के मिलने से एक अर्थ का लाभ होता है यदि उनमें से किसी एक पद को निकाल दिया जाय तो अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। शेष पद (शब्द) निकाले हुए पद (शब्द) की आकांक्षा करते हैं। वे साकांक्ष हो जाते हैं। इस की न्यूनता के कारण वे अर्थ व्यक्त नहीं कर सकते हैं, इस लिये अर्थ ज्ञान करानेवाले पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं[११]।

एक वाक्य :- शब्दों के समुदाय को ही वाक्य नहीं कहते हैं। वाक्य में क्रिया का होना आवश्यक है और जहां क्रिया होगी वहां क्रिया को करनेवाला कर्ता भी रहता है। क्रिया और कर्ता के रहने पर कर्ता के साधन या कर्म आदि का भी उल्लेख होता है। जैसे **बालः हस्तेन पत्रं लिखति** अर्थात् लड़का हाथ से पत्र लिखता है। इसे वाक्य कहते हैं। इस वाक्य में लिखति (लिखता है) यह क्रियावाचक शब्द है। लिखने वाला भी कोई अवश्य होना चाहिये क्योंकि विना कर्ता के क्रिया नहीं हो सकती और जब तक कोई काम नहीं करेगा तब तक वह कर्ता नहीं कहला सकता है। अर्थात् क्रिया को कर्ता की और कर्ता को क्रिया की वाक्य में आकांक्षा रहती हैं इसलिये दोनों में से किसी एक के न होने पर, बचा हुआ शब्द **साकांक्ष**-साकांक्षा वाला कहलाता हैं। लड़का लिखता है तो क्या लिखता है ? इसका उत्तर है पत्र लिखता है तथा पुनः प्रश्न होता है कि किससे लिखता है तो उसका भी उत्तर है 'हाथ से' लिखता है अर्थात् 'बालः हस्तेन पत्रं लिखति' वाक्य में कर्ता, कर्म-करण (साधन) आदि सभी पद साकांक्ष है। जब ये सभी पद (शब्द) जहां पर विद्यमान रहते हैं जब इनको किसी पद की आकांक्षा नहीं रहती है तब ये पूरा अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसे निरकांक्ष पदों के समुदाय को वाक्य या एकवाक्य कहते हैं। इसलिये **इषे त्वोर्जे त्वा (यजु.१-१)** मन्त्र एक वाक्य कहलाता है।

अनेक वाक्य :- एक वाक्य का उल्लेख करके अनेक वाक्य का अर्थ करते हुए लिखा है कि जो पद समुदाय निरकांक्ष होते हैं उनमें वाक्य का भेद होता है अर्थात् वे अनेक वाक्य कहलाते हैं[१२]। अर्थात् जो पदसमुदाय दूसरे पद समुदाय की आकांक्षा रखता है उसे एक वाक्य कहते हैं तथा जो पद समुदाय दूसरे पद समुदाय की आकांक्षा नहीं रखता है उसे निरकांक्ष कहते हैं ऐसे पद समुदाय अनेक वाक्य कहलाते हैं। जैसे **चित्पतिर्मा पुनातु, वाकपतिर्मा पुनातु देवा मा सविता**

पुनातु .... (यजु. ४-४) इस मन्त्र में 'चित् पति र्मा पुनातु' इस पद समुदाय को अर्थ का ज्ञान कराने के लिए 'वाक्पतिर्मा पुनातु' की आकांक्षा नहीं रहती हैं ये दोनों पद समुदाय अर्थबोध कराने के लिये परस्पर निरकांक्ष है। अतः ये दोनों एक वाक्य नहीं अपितु अलग अलग दो वाक्य कहलाते हैं। इसलिये यजुर्वेद के मन्त्रों में एकवाक्य अथवा अनेक वाक्य की भिन्नता समझ लेनी चाहिये।

नाम की भिन्नता कर्म की भिन्नता :- चारों वेदों के ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य और गोपथ ब्राह्मण ये चार ब्राह्मणग्रन्थ हैं तथा चारों वेदों की वाष्कल कठ, कालापक, तैत्तिरीयादि ११२७ शाखाएं हैं ऐसा वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। भिन्न भिन्न शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्निहोत्रादि कर्मों का जो वर्णन किया गया है वह अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म भी भिन्न भिन्न है क्योंकि भिन्न भिन्न ग्रन्थों के कारण भिन्न भिन्न नाम से कहा जाता है। जैसे काठक शाखा में पठित कर्म काठक कहलाता है और कालापक या तैत्तिरीय शाखा में पठित अग्निहोत्र आदि कर्म कालापंक ये तैत्तिरीय कर्म कहलाता है। नाम की भिन्नता से कर्म की भिन्नता भी सिद्ध होती है यह पूर्व पक्ष (शंका) के रूप में सूत्रकार ने उल्लेख किया है। इसी प्रकार रूपभेद, धर्मभेद, पुनरुक्ति, निन्दादि के भेद से कर्म की भिन्नता होती हैं[१३]।

नाम भेद से कर्म में भिन्नता नहीं :- इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि कर्म में कोई भिन्नता नहीं हैं कर्म तो एक ही है भिन्न भिन्न ब्राह्मणग्रन्थों तथा शाखाओं में उल्लिखित होने से उन ग्रन्थों के कारण भिन्न भिन्न नाम से जाना जाता है। क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म के फल और स्वरूप की सभी ब्राह्मण ग्रन्थों और शाखा ग्रन्थों में समानता पायी जाती है इसलिये नाम की भिन्नता से कर्म की भिन्नता नहीं होती है। काठक में और कालापक शाखा में पठित होने के कारण वह काठक कर्म या कालापक कर्म कहलाता है। कर्म के नाम में भिन्नता होने से कर्म में भिन्नता नहीं होती है[१४]। इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि यदि भिन्न भिन्न ग्रन्थों में वर्णन आने से ही कर्म भिन्न भिन्न होजाय तो एक ब्राह्मण या शाखा में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोमादि विविध यज्ञों का वर्णन है। इनका तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णन है। तब वे सभी विविध यज्ञ अनेक न होकर एक ही यज्ञ होना चाहिये क्यों कि एक ही ब्राह्मण ग्रन्थ में इनका वर्णन आया है। इसलिये एक ग्रन्थ में अनेक कर्मों के आने से एक कर्म नहीं होते हैं तथा एक ही कर्म का अनेक ग्रन्थों में वर्णन आने से वह एक कर्म भी अनेक नहीं हो

जाता है[१५]।

अनित्य शाखा और एक कर्म :- वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से नित्य हैं किन्तु वेदों की वाष्कल काण्व काठक कालापक तैत्तिरीय आदि शाखाएं अनेक ऋषियों के द्वारा प्रचार और प्रवचन के कारण हुई है इसलिये शाखाएं नित्य नहीं अपितु अनित्य हैं। ऋषियों ने इन शाखाओं का प्रवचन किया, शाखाओं के प्रवचन कर्ता के भिन्न भिन्न होने से भिन्न भिन्न शाखाएं बन गयीं। जो वस्तु बनती है वह नष्ट भी होती है इसलिये शाखाओं को अनित्य कहा जाता है[१६]। इसलिये अनित्य शाखाएं अनेक है और शाखाओं के अनेक होने से एक ही कर्म को अनेक नामों से कहा जाता हैं तो वह एक कर्म अनेक नहीं हो सकता है।

पुनरुक्ति दोष नहीं :- एक ही कर्म का वर्णन वेद की एक शाखा में आता है और पुनः उसी कर्म का वर्णन दूसरी शाखा में भी आ जाता है तो क्या पुनरुक्ति दोष नहीं है ? इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि एक ही विषय का अलग अलग शाखाओं में अलग अलग ऋषियों के द्वारा प्रवचन किये हुए होने से एक ही कर्म में पुनरुक्ति दोष नहीं आता है क्योंकि भिन्न भिन्न ऋषियों के द्वारा अपनी अपनी शाखा के पढ़नेवालों के लिये उस कर्म का उपदेश किया गया है। वेद का सम्बन्ध सभी के साथ समान रूप से है[१७]। अर्थात् पुनरुक्ति दोष तो वहां होता है जहां एक ही व्यक्ति एक ही विषय को बार बार कहता है किन्तु यहां तो एक ने नहीं अपितु अनेक ऋषियों ने अपने अपने शिष्यों को एक ही विषय का उपदेश दिया है। इसलिये प्रत्येक ब्राह्मण ग्रन्थ और प्रत्येक प्रत्येक शाखा में वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म का उपदेश दिया गया है तो वह पुनरुक्त नहीं है।

पुनरुक्ति दोष के विषय में अगले सूत्र में पुनः लिखा है कि एक ही व्यक्ति ने एक ही व्यक्ति को एक विषय का बार बार उपदेश दिया उसे पुनरुक्ति दोष कहते हैं[१८]। एतरेय शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचन कर्ता एक नहीं अनेक हैं, तथा इन ग्रन्थों का प्रवचन एक ही व्यक्ति के लिये नहीं अपितु अनेक व्यक्तियों को उपदेश देने के लिये किया गया है, इस लिये पुनरुक्ति दोष नहीं आता हैं[१९]।

शाखा भेद कर्म भेद :- शाखा भेद से कर्म में भी भिन्नता हो जाती हैं इस विषय में उदाहरण दिया जाता है कि एक शाखावालों की मान्यता है कि अग्निहोत्र प्रातःकाल सूर्योदय होने पर करना चाहिये, जो लोग प्रातःकाल सूर्योदय होने से पहले हवन करते हैं वे झूठ बोलते हैं कि **"सूर्यो ज्योति ज्योंतिः सूर्यः स्वाहाः"** इसलिये झूठ बोलनेवाले को जितना पाप लगता है उतना ही पाप

सूर्योदय से पहले यज्ञ करनेवाले को लगना चाहिये[२०]। किन्तु किसी शाखा में सूर्योदय होने पर हवन करने की निन्दा की गयी है और सूर्योदय से पहले हवन करने का वर्णन किया गया है। इस विषय में सूत्रकार लिखते हैं कि अतिथि के घर से चले जाने पर उसके पीछे अन्नादि खाद्यपदार्थ उसके लिये ले जाना व्यर्थ है, अपितु अतिथि के घर से जाने के पहले ही उसके निमित्त खाद्यपदार्थ लाना उपयोगी है वैसे ही सूर्योदय के पश्चात् हवन अनुपयोगी है, सूर्य के उदय होने से पहले हवन करना उपयोगी हैं[२१]। एक ही कर्म को अलग अलग समय में करने की निन्दा या प्रशंसा से स्पष्ट होता है कि शाखा भेद से कर्म भेद में भी भिन्नता होती हैं यह शंका उपस्थित होती हैं।

निन्दा या प्रशंसा से कर्म भेद नहीं :- इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि पृथक् पृथक् शाखाओं में निन्दा या प्रशंसा के कारण कर्म में भिन्नता नहीं होती है। इस विषय में लिखा है कि **निन्दा किसी की निन्दा के लिये नहीं अपितु दूसरे की प्रशंसा के लिये की जाती है**[२२]। जैसे किसी शाखा में सूर्योदय से पहले हवन करने की निन्दा की गयी है तो इसका यह तात्पर्य है कि सूर्योदय के होने पर हवन करने की प्रशंसा का संकेत वहां उस शाखा के प्रवचनकर्ता दे रहें हैं कि हवन सूर्य के उदय होने पर करने से अधिक लाभदायक होता है। इसी प्रकार यदि किसी शाखा में सूर्योदय से पहले हवन करने की निन्दा की गयी तो उसका तात्पर्य सूर्योदय के पहले हवन करना चाहिये यह संकेत वहां पर दिया गया है। (१२-४-२० आर्यमुनि भाष्य पृ. २५ द्वितीय संस्करण) यदि सूर्योदय से पहले और सूर्योदय के बाद हवन करने की निन्दा को पढ़कर यदि व्यक्ति सत्य मान लेगा तो वह हवन कदापि नहीं कर सकेगा क्योंकि दोनों समय में हवन करने की निन्दा की गयी है। निन्दा को निन्दा न मानकर दूसरे समय की प्रशंसा की गयी है यह स्वीकार करने पर सुविधानुसर मनुष्य हवन सूर्योदय से पहले भी कर सकता है और कभी सूर्योदय के बाद भी कर सकता है। इसलिये **निन्दा कर्मभेद का कारण नहीं** हो सकती है यह सूत्रकार ने यहां स्पष्ट किया है[२३]।

तृतीय अध्याय में **आठ पाद** है इसके प्रथम पाद में २७, द्वितीय पाद में ४३, तृतीय पाद में ४५, चतुर्थ पाद में ५१, पंचम पाद में ५३, षष्ठ पाद में ४३, सप्तम पाद में ५१ तथा अष्टम पाद में ४४ सूत्र हैं इस तरह इस **अध्याय में ३५७ सूत्र हैं**।

शेष शब्द का अर्थ :- द्वितीय अध्याय में कर्म के भेदाभेद का वर्णन करके तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में 'शेष' शब्द का क्या अर्थ है यह वर्णन करते

हुए लिखा है कि जो दूसरों के लिये होता है उसे शेष कहते हैं[२४]। शेष कौन हैं इस विषय में अगले सूत्रों में लिखा है कि यज्ञ-दान-फलादि शेष हैं[२५]। अर्थात् मनुष्य यज्ञ दानादि कर्म करता हैं जिसका फल उसे प्राप्त होता है इसलिये यज्ञ दानादि कर्म फल के लिये हैं। इसलिये फल की अपेक्षा यज्ञ दानादि कर्म शेष कहलाते हैं। फल भी फल के लिये नहीं अपितु परार्थ अर्थात् मनुष्य के लिये हैं। इसलिये मनुष्य की अपेक्षा फल भी शेष कहलाता है। इसलिये जो दूसरे के लिये होता है उसे शेष कहते हैं।

यजमान को यज्ञ का फल :- ''अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'' स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष की इच्छा रखने वाला व्यक्ति यज्ञ करे। ऐसा वर्णन यज्ञ के विषय में मिलता है। यहां पर शंका होती है कि यज्ञ को यजमान करता है और यजमान के यहां यज्ञ कराने के लिये होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मादि ऋत्विक् आते हैं और वे यज्ञ कराते हैं। इसलिये स्वर्ग-सुख विशेष रूपी फल यज्ञ के यजमान को प्राप्त होता है अथवा यज्ञ कराने वाले, आदि ऋत्विजों को प्राप्त होता है। इसका समाधान करते हुए आचार्य जैमिनि लिखते हैं कि शास्त्रोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों का फल अनुष्ठाता (अनुष्ठान करनेवाले) को प्राप्त होता है। क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है ऐसा शास्त्र से सिद्ध है इसलिये उन यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान में है अनुष्ठाता (कर्ता) होवे[२६]।

कर्ता को कर्म का फल :- इस सूत्र के द्वारा मीमांसा शास्त्र के रचयिता ने स्पष्ट किया है कि कर्म का फल कर्म के करनेवाले कर्ता को मिलता है। ऐसा नहीं होता है कि कर्म कोई करे और उसका फल कोई दूसरा ही प्राप्त करे। कर्म करनेवाला ही फल को प्राप्त करता है इसलिये वेद में लिखा है **''कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेत् ...** यजु. ४०-२) अर्थात् कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। यदि कर्म का फल कर्म करनेवाले को नहीं प्राप्त होता तो यह वर्णन आता कि कर्म को दूसरे से कराता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। किन्तु ऐसा वर्णन नहीं है। कर्म का फल कर्म करनेवाले को न मिले तो सारी कर्मफल व्यवस्था भी लड़खड़ा जायेगी। इसलिये यज्ञ का फल यज्ञ करनेवाले यजमान को मिलता है यह सूत्रकार ने स्पष्ट किया है।

ऋत्विजों को दक्षिणा :- यज्ञ करानेवाला होता, अध्वर्यु आदि ऋत्विक् भी तो यज्ञ में मन्त्रपाठ करते, आहुति तथा अन्य यज्ञ की व्यवस्थादि करने का कर्म करते हैं उनको भी यज्ञ का फल स्वर्ग प्राप्त होना चाहिये। इस शंका का समाधान करते हुए अगले दो सूत्रों में स्पष्ट किया है कि यज्ञका आयोजन यजमान

करता है। उसकी सारी व्यवस्था यजमान स्वयं ही करता है। जो होता अध्वर्यु ब्रह्मादि ऋत्विक् आदि यज्ञ सम्पन्न कराते हैं तो उसके लिये उनको पारिश्रमिक के रूप में यजमान दक्षिणा देता है इसलिये यज्ञ का फल स्वर्ग अर्थात् सुखविशेष यजमान को ही प्राप्त होता हैं। क्योंकि यज्ञ के सभी कर्मों में मुख्य कर्म दक्षिणा देना है उसका अनुष्ठान यजमान करता है[२७]।

यज्ञ के मुख्य और सहायक कर्म :- यजमान से अतिरिक्त ऋत्विजों के कर्मों का उल्लेख करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि दक्षिणा देने के अतिरिक्त अन्य शेष कर्मों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि दक्षिणा देने के अन्य शेष कर्मों का सम्पादन करना ऋत्विजों के कर्म हैं अर्थात् यज्ञ सम्पन्न कराने के लिये वे यज्ञ की सारी विधियां करते हैं और यजमान से दक्षिणा ग्रहण करते हैं[२८]। अर्थात् प्रधान (मुख्य) कर्म तथा अंग (सहयोगी) कर्मों से यज्ञ सम्पन्न होता है। सभी कर्मों को यजमान, अकेला नहीं कर सकता हैं, इसलिये अपने सहयोगियों को यज्ञ कराने के लिये नियुक्त करता है जिन्हें ऋत्विज् कहते हैं। यजमान स्वयं मुख्य कर्म करता है और अपने सहयोगियों से यज्ञ के अंग अर्थात् अन्य आवश्यक क्रियाएं अर्थात् सहयोगी कर्म करा कर यज्ञ सम्पन्न कराता है जिसके लिये वह उनको दक्षिणा देता है, इसलिये यज्ञ का फल यजमान को ही प्राप्त होता है।

ऋत्विजों के कर्म :- यज्ञ में होता अध्वर्यु-उद्गाता ब्रह्मा आदि सभी ऋत्विजों के कर्म पृथक् पृथक् हैं या कोई भी ऋत्विक् कोई भी कर्म कर सकता है। इस विषय में सूत्रकार लिखते हैं कि यज्ञ के कर्मों की व्यवस्था हैं प्रत्येक ऋत्विज के कर्म का नियम है। यह नियम सार्थक है। यज्ञ प्रकरण में लिखा है कि **''आध्वर्यवमिदं हौत्रमेतत्''** - यह कर्म अध्वर्यु का हैं, यह होता का हैं। इस से स्पष्ट होता है किं यज्ञ में प्रत्येक ऋत्विक् के लिये पृथक् पृथक् कर्म का विधान है[२९]।

वेद वेदांगों का अध्ययन :- यज्ञादि सभी सत् कर्म मनुष्य को वेदानुसार करने चाहिये अर्थात् वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण है, इसलिये वेद में जिन कर्मों को करने का विधान तथा जिन कर्मों को करने का निषेध किया गया है उसी के अनुसार कर्म करना चाहिये और कर्म करने के लिये वेदों का षडंगों सहित (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि शिक्षा व्याकरणादि वेदांगों का अध्ययन न करके केवल वेद का अध्ययन करे तो वेदों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है यह उल्लेख पाद के अन्त में सूत्रकार ने किया है[३०]।

यज्ञ में विविध कर्म :- तृतीय अध्याय के अन्तिम (अष्टम) पाद में यजमान के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऋत्विजों का वरण करना यजमान का कर्तव्य है क्योंकि यज्ञ में अनेक प्रक्रियाएं होती हैं उन सब को यजमान अकेला नहीं कर सकता है इसलिये उन सब क्रियाओं का अनुष्ठान करने के लिये यजमान को अपने सहयोगियों की अर्थात् ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। अतः वह ऋत्विजों का वरण करे[३१]।

तप का महत्व :- यजमान यज्ञ करने के लिये तप करता है क्योंकि विना तप के कोई भी व्यक्ति लौकिक कर्म को करने में सफल नहीं हो पाता है इसलिये यज्ञ जैसे वैदिक कर्म को करने के लिये तप करना भी यजमान का कर्तव्य कर्म है। क्योंकि तप के विना यजमान को फल की सिद्धि अर्थात् फल की प्राप्ति नहीं होती हैं[३२]। तपस्या करना यजमान का ही कर्म नहीं है अपितु यज्ञ को सम्पन्न करानेवाले होता-अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का भी कर्म तप है अर्थात् उन्हें भी तपस्या करनी पड़ती है[३३]। तप करना यजमान का कर्म है वैसे ही यज्ञ के फल का (स्वर्गादि की प्राप्ति) भी यजमान का अधिकार है क्योंकि उस का भोक्ता वही है, जो यज्ञ करता है। जो कर्म करता है वही फल भोगता है। फल भोग ऋत्विजों का नहीं यजमान का अधिकार है[३४]।

यजमान कैसा हो ? :- कौन व्यक्ति यज्ञ करे ? यज्ञ का यजमान कैसा होना चाहिये जिसका यज्ञ, होता, अध्वर्यु आदि ऋत्विक् करावें। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि जो यजमान मन्त्रों के अर्थ को जानने वाला है उसके यहां होता अध्वर्यु आदि ऋत्विक् गण यज्ञ सम्पन्न करावें[३५]। जो मन्त्रों के अर्थ को नहीं जानता है उसके वहां यज्ञ सम्पन्न न करावें। अर्थात् विद्वान् व्यक्ति को ही यजमान बनावें ऐसा स्पष्ट उल्लेख आचार्य जैमिनि ने इस प्रसंग में किया हैं। यज्ञ का फल यजमान को प्राप्त हो इसके लिये ऋत्विक् प्रार्थना करते हैं। यह फल की प्रार्थना यजमान के लिये की जाती है यह भी स्पष्ट इस प्रसंग में सूत्रकार ने किया हैं[३६]। अर्थात् यज्ञ के फल का भोक्ता यजमान है इसलिये उसके लिये प्रार्थना की जाती है। यह विवेचन करके विविध विषयों को स्पष्ट किया है।



प्रमाण :

१. चोदना पुनरारम्भः ॥ (२-१-५) २. विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥ (२-१-३०)
३. अपि वा प्रयोग सामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्
४. शेष ब्राह्मणशब्दः ॥ (२-१-३३) ५. तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ (२-१ ३५)
६. गीतिषु सामाख्या ॥ (२-१-३६) ७. शेषे यजुः शब्दः ॥ (२-१-३७)
८. निगदो वा चतुर्थं स्याद् धर्म विशेषात् ॥ (२-१-३८)
९. उच्चैः ऋचाक्रियते उच्चैः साम्ना, उपांशुयजुषा उच्चैर्निगदेन ॥ (मैत्रा. ३-६-५३)
१०. निगदो वा चतुर्थं स्याद् धर्म विशेषात् ॥ (२-१-३८)
११. अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्ष दिवभागे स्यात् ॥ (२-१-४६)
१२. समेषु वाक्य भेदः स्यात् ॥ (२-१-४७)
१३. नामरूप-धर्म-विशेष-पुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचन प्रायश्चित्तान्यार्थ दर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् । (२-४-८)
१४. एकं वा संयोग रूप चोनाख्यांऽविशेषात् ॥ (२-४-९)
१५. सर्वेषां चैक कर्म्यं स्यात् ॥ (२-४-११) १६. कृतकं चाभिधानम् । (२-४-१२)
१७. अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥ (२-४-१६)
१८. न चैकं प्रतिशिष्यते ॥(२-४-१८)
१९. प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति ये ।
२०. यथा अतिथये प्रतायान्नमा हरेयुः ताद्दगेतद् यद् उदित जह्वति ॥
२१. न हि निन्दा निन्द्यं निन्दि तुं प्रयुज्यते किन्तर्हि निन्दितादितरत् प्रशंसितुम् ॥ (२-४-२०)
२२. एकत्वेऽपि पराणि निन्दा शक्तिसमासिवचनानि ॥ (२-४-२०)
२३. शेषः परार्थत्वात् ॥ (३-१-२) २४. द्रव्यगुणसंस्कारेषुबादरिः कर्माण्यपि जेमिनि ।
२५. शास्त्रफलं प्रयोक्तरितल् लक्षणात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥ (३-७-१८)
२६. फलार्थत्वात् । फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥ (३-१-३, ४, ५)
२७. उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ॥ (३-७-१९)
२८. अन्यो वा स्यात् परिक्रियाम्नात् विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि ॥ (३-७-२०)
२९. तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात संयोगस्यार्थवत्वात् ॥ (३-७-१०)
३०. वेदोपदेशात् पूर्ववद् वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ।
३१. तद् ग्रहणाद् वा स्वधर्मः स्यादधिकारः सामर्थ्यात् सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥ (३-७-५०, ५१)
३२. स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥ (३-८-१)
३३. वचनादितरेषां स्यात् ॥ (३-८-११)
३४. ज्ञाते च वाचनं नह्यविद्वान् विहितोऽस्ति । (३-८-१८)
३५. स्वामिनो का तदर्थत्वात् ॥ (३-८-२६)

मीमांसा दर्शन

चतुर्थ अध्याय से षष्ठ अध्याय

अध्याय परिचय :- मीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय के अन्त में यजमान के कर्तव्यों का तथा यजमान की योग्यता का वर्णन करते हुए लिखा है कि यजमान मन्त्रों के अर्थ को जाननेवाला होना चाहिये (३-८-१८) तथा यज्ञ का फल यजमान को प्राप्त होता है यह भी वर्णन आया है।

चतुर्थ अध्याय में चार पाद हैं। इसके प्रथम पाद में ४८, द्वितीय पाद में ३०, तृतीय पाद में ४१ तथा चतुर्थ पाद में ४१ सूत्र हैं। इस तरह इस **अध्याय में १६० सूत्र हैं।**

क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ कर्म :- चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में क्रतु और पुरुष के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अब क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा करनी चाहिये[1]। अर्थात् क्रतु और याग दोनों ही पर्यायवाचक शब्द हैं। जो क्रतु के लिये होता है उसे क्रत्वर्थ तथा जो पुरुष के लिये होता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं।

जिस कर्म को करने से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है उस कर्म को करने की मनुष्य को हमेशा इच्छा रहती है जैसे बच्चे को खेलने में सुख मिलता है इसलिये उसको खेलने की सदा इच्छा रहती है। इसी प्रकार सत्संगी व्यक्ति को सत्संग की, खिलाड़ी को खेल कूद की, योगी को ध्यान योग की इच्छा रहती है। खिलाड़ी, योगी, सत्संगी आदि को अपने कर्म में लगाने के लिये किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती है। ये स्वयं ही अपनी इच्छा से अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल कर्म में लग जाते हैं। इन कर्मों को करने में मनुष्य प्रयत्न करने लग जाता है क्योंकि इन कर्मों को वह सुख का साधन समझता है। ऐसे कर्म जिनको स्वयं की इच्छा से करता है उन्हें पुरुषार्थ कहते हैं तथा जिस कर्म को करने के लिये दूसरे को प्रेरणा देने की आवश्यकता होती है जो साक्षात् फल (सुख) का साधन नहीं अपितु उसमें सहयोगी होता है उसे क्रत्वर्थ कहते हैं[2]।

याग का अर्थ :- याग शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है **द्रव्य, देवता** और **क्रिया** इन तीनों के समुदाय को याग कहते हैं। क्योंकि याग का संकेत

इन तीनों के समुदाय में ही किया गया है[३]। परमात्मा के उद्देश्य से द्रव्य के त्याग को याग कहते हैं। यज्ञ में जिस देवता को हवि (द्रव्य) दी जाती है उसका उल्लेख करके आहुति दी जाती है। जेसे **अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा** इन मन्त्रों का उच्चारण करके परमात्मा के नाम अग्नि और सोम को हवि (द्रव्य) दी जाती है। अर्थात् याग में आहुति देना यह क्रिया हो रही है। देवता अर्थात् परमात्मा के दिव्य गुण (अग्नि जैसे प्रकाशशीलता), उन्नतिप्रदान करना, **सोम**-शान्ति-शीतलता देना आदि) भी विद्यमान हैं तथा द्रव्य जिसकी आहुति दी जा रही है वह भी है, इस प्रकार **द्रव्य, देवता** और **क्रिया** इन तीनों के समुदाय को याग (यज्ञ) कहते हैं।

याग का फल :- ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, दर्शपौर्णमासादि विविध यज्ञों का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में आता है। उनकी महत्ता का वर्णन करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि **'स्वर्ग कामो यजेत'** अर्थात् स्वर्ग की कामना करनेवाला व्यक्ति यज्ञ (याग) करे। यजेत क्रिया विधिलिङ् के प्रथम पुरुष के एकवचन में प्रयुक्त हुई है। यजेत क्रिया के एक वचन में किये गये प्रयोग के विषय में लिखा है कि एक वचन में प्रयोग होने से स्पष्ट होता है कि याग (यज्ञ) एक ही फल को उत्पन्न कर सकता है अनेक फलों को उत्पन्न नहीं कर सकता है। यदि उसमें अनेक फलों को उत्पन्न करने की शक्ति होती तो यजेत क्रिया एक वचन में प्रयुक्त न होकर बहुवचन में प्रयुक्त होती। बहुवचन में प्रयोग न करके एक वचन में शास्त्रकारों ने 'यज' धातु का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ का एक ही फल (स्वर्ग) होता है[४]। यह एक फल क्या हो सकता है ? इसका वर्णन करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि याग का वह एक फल स्वर्ग (सुख विशेष) ही होना चाहिये क्योंकि वह सब यागों के प्रति समान है[५]।

याग (यज्ञ) कर्म में वेद की प्रामाणिकता :- पंचम अध्याय में चार पाद और **१३४ सूत्र** है। इसके प्रथम पाद में ३५ द्वितीय पाद में २९, तृतीय पाद में ४४ तथा चतुर्थ पाद में २६ सूत्र हैं। इस अध्याय में वैदिक कर्मकाण्ड यज्ञादि में वेदों द्वारा निर्दिष्ट क्रम प्रामाणिक है। वेद का प्रमाण अन्य ग्रन्थों के प्रमाणों की तुलना में अधिक प्रामाणिक है। इस विषय में लिखा है कि श्रुतिप्रमाण विषयक क्रम को मानना चाहिये क्योंकि वह अन्य सब प्रमाणों की अपेक्षा मुख्य है[६]। अर्थात् सब प्रमाणों में वेदों के प्रमाण सर्वोपरि हैं और उन्हीं के अनुसार यागादि कर्म करना चाहिये। वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में यदि कहीं कर्मकाण्ड में विरोध

दिखाई दे तो वेद के अनुसार यागादि कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये। यह स्पष्ट अगले सूत्र में सूत्रकार ने किया है। अर्थात् मन्त्र के साथ ब्राह्मण वाक्य का विरोध होने पर मन्त्र के अनुसार यज्ञ कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये[७]। क्योंकि कर्म के अनुष्ठान का बोध करानेवाले ब्राह्मणवाक्य से मन्त्र अधिक बलवान् हैं। इस तरह सूत्रकार ने वेद मन्त्रों की श्रेष्ठता बतलाई है।

यज्ञ कर्म का अधिकारी :- षष्ठ अध्याय में आठ पाद और **३५० सूत्र** हैं। आठ पादों में सूत्र संख्या अधोलिखित है ५२+३२+४१+४७+५६+३९+४०+४३ =३५० सूत्र हैं। यज्ञादि कर्मों को करने का किस को अधिकार है और किसको अधिकार नहीं है इसका विस्तृत विवेचन षष्ठ अध्याय में किया गया है। किसी भी फल की प्राप्ति के लिये कर्म किया जाता है। क्योंकि फल को प्राप्त करने की सभी को इच्छा होती है इसलिये शास्त्रों में उल्लेख किये हुए **यज्ञ** कर्म को **करने का स्त्री और पुरुष दोनों** को ही **अधिकार है**[८]। अर्थात् कर्म फल के लिये होने से शास्त्र सब के अधिकार वाला है। शास्त्र सभी को यज्ञादि कर्म करने का अधिकार देते हैं।

पुरुषों के समान स्त्री को भी यज्ञादि कर्मकाण्ड को करने का अधिकार है इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि वेदों के अध्ययन अध्यापन में पुरुषों के समान स्त्रियां भी निरन्तर संलग्न रही हैं। इसलिये वेदों के स्वाध्याय करने में स्त्रियों के संलग्न रहने से भी स्पष्ट होता है कि यज्ञादि कर्मकाण्ड को करने का अधिकार स्त्रियों को भी है[९]।

ऐतिशायन का मत :- यज्ञादि कर्मकाण्ड को करने का अधिकार पुरुष को है स्त्री को अधिकार नहीं है ऐसा ऐतिशायन ऋषि का मत है। पूर्व पक्ष के रूप में इनके मत का उल्लेख करते हुए महर्षि जैमिनि ने लिखा है कि **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि वाक्यों में 'स्वर्गकाम:' शब्द को पुल्लिङ्ग से निर्दिष्ट किया गया है इससे प्रतीत होता है कि यज्ञादि कर्म करने का अधिकार पुरुष को ही है, स्त्री को नहीं[१०]।

स्त्री-पुरुष दोनों ही यज्ञ के अधिकारी :- ऐतिशायन ऋषि के **मत का खण्डन** करते हुए अगले सूत्र में सूत्रकार ने लिखा है कि **''स्वर्गकामो यजेत''** इत्यादि वाक्यों में पुल्लिङ्ग का निर्देश जाति वाचक है। अर्थात् जो भी स्वर्ग की

कामना-इच्छा करे (चाहे स्त्री हो या पुरुष) वह यज्ञ करे। जाति का बोध करनेवाला शब्द 'स्वर्गकाम' केवल पुरुष का बोध नहीं कराता है अपितु स्त्री का भी बोध कराता है। इसमें कोई.विशेषता नहीं है। ऐसा नहीं है कि पुरुष ही स्वर्ग की कामना करे और स्त्री स्वर्ग की कामना न करे, ऐसी भिन्नता नहीं है ऐसा बादरायण का मत है, इसलिये यज्ञादि कर्मकाण्ड को करने का स्त्री-पुरुष दोनों को ही अधिकार है[११]।

स्त्री को अधिकार वेद सम्मत :- बादरायण के मत की पुष्टि में अगले सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि वेद में प्रतिपादन होने से यज्ञ करने का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनों को समान अधिकार है[१२]। अर्थात् वेद में स्पष्ट ही लिखा है कि वेद को पढ़ने का स्त्री और पुरुष सभी को अधिकार है जैसे परमेश्वर के बनाये हुए सूर्य के प्रकाश से स्त्री-पुरुष सभी लाभ उठाते हैं वैसे ही परमेश्वर प्रदत्त ज्ञान वेद को भी पढ़ने का सभी को अधिकार है। इस विषय में भी स्पष्ट लिखा है कि **(यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ...... यजु. २६-२)**.जैसे वेद पढ़ने का अधिकार स्त्री पुरुष सभी को है वैसे ही यज्ञ करने का अधिकार स्त्री-पुरुष सभी को है।

यज्ञ का अधिकारी विषयक शंका :- स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है इस विषय में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रकार ने अनेक सूत्रों की रचना की है। इस विषय में एक तर्क देते हुए लिखा है कि, द्रव्य के स्वामी पुरुष होते हैं इसलिये पुरुषों को ही यज्ञ करने का अधिकार है[१३]। स्त्री जो भी काम करती हैं वह सब पति के लिये ही करती है उसके सारे काम पति के काम के अन्तर्गत आ जाते हैं उसके स्वतंत्र काम नहीं हो सकते है अतः स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार नही है[१४]।

शंका समाधान :- इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि धर्मरूपी फल और वैदिक कर्मों को करने का उत्साह पुरुषों के समान स्त्रियों में भी मिलता है। लौकिक उन्नति और पारलौकिक उन्नति अर्थात् मोक्ष ये दोनों ही धर्म के कारण प्राप्त होते हैं[१५]। लौकिक उन्नति के लिये जैसे पुरुष प्रयत्नशील रहते हैं वैसे ही स्त्रियां भी प्रत्येक क्षेत्र में प्रयत्नशील होती हैं इनमें भी पुरुषों के समान तीव्र बुद्धि रहती है, आध्यात्मिक उन्नति में भी ये अग्रणी रही हैं। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य और गार्गी के संवाद का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है, जैसे

भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुष उन्नति करता है वैसे स्त्रियां भी उन्नति करती है इसलिये पुरुषों के समान स्त्रियों को भी अध्ययन करने का अधिकार होने के समान यज्ञ करने का भी अधिकार है[१६]।

स्त्री को यज्ञ का अधिकार :- इसी विषय में अन्य तर्क देते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से भी स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार हैं[१७]। अर्थात् विवाह विधि सम्पन्न कराते हुए वर को उपदेश दिया जाता है कि यह पत्नी तुम्हारी सहधर्मिणी है। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय को आप दोनों को मिलकर प्राप्त करने में सफल होना। पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करने में दोनों का परस्पर सहयोग अपेक्षित है। इस प्रकरण से भी स्पष्ट होता है कि स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार है।

स्त्रियों के पास निजी धन नहीं होता है वे निर्धन होती हैं इसलिये उन्हें यज्ञ करने का अधिकार नहीं है उसका **समाधान** करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि स्त्री को पति के धन का स्वामी होना लिखा है पति के धन पर पत्नी का भी स्वामीत्व होता है। जिसको शास्त्रों में **दम्पती** धर्म कहा गया है। पति के धन का स्वामीत्व होने के कारण पति का धन ही पत्नी का निजी धन है स्त्री निर्धन नहीं है इसलिये उसे यज्ञ करने का अधिकार है[१८]। इस विषय में अगले सूत्र द्वारा तर्क देते हुए लिखा है कि स्त्री और पुरुष दोनों के एक कर्म के बोध करानेवाले वचन पाये जाते हैं। जैसे **"धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या"** अर्थात् धर्म-अर्थ और काम में स्त्री को पृथक् नहीं अपितु साथ रखकर कार्य करना चाहिये। इस प्रकार यदि पुरुष यज्ञादि धार्मिक कार्य करता है तो स्त्री भी यज्ञादि धार्मिक कर्म करती हैं[१९]। अतः स्त्री भी यज्ञादि कर सकती है। इसी तर्क को अधिक सशक्त करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि वैदिक वाक्यों में पति, पत्नी दोनों को एक साथ कर्म करने का वर्णन होने से स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार सिद्ध होता है[२०]।

यज्ञाधिकार विषयक शंका समाधान :- जैसे सेवक स्वामी के धन की रक्षा करता है उसके रक्षा करने के कारण सेवक को स्वामी के धन का स्वामी या रक्षक कह दिया जाता है वैसे ही पत्नी भी पति के धन की रक्षा करती है। इसलिये उसे भी पति के धन की स्वामिनी कहा जाता है। वास्तव में वह धन की स्वामिनी नहीं है और धन की स्वामिनी न होने के कारण उसे यज्ञादि कार्यों में व्यय करने का

अधिकार भी नहीं है अर्थात् वह यज्ञ नहीं कर सकती है। यह **शंका** सूत्रकार ने प्रस्तुत की है[२१]। इसका **समाधान** करते हुए महर्षि जैमिनि ने लिखा है कि जब स्त्री धर्म रूपी फल को चाहती है वह धर्मरूपी फल के प्रयोजनवाली है फिर कैसे कहा जाता है वह स्वामिनी नहीं है। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ मनुष्य जन्म में ही प्राप्त हो सकते हैं। पुरुष के समान स्त्री भी उन्हें प्राप्त कर सकती है, उसमें पुरुषार्थ चतुष्टय को करने का सामर्थ्य है। अत: स्त्री को यज्ञादि का अधिकार है[२२]। शास्त्रों में यज्ञादि कर्म स्त्री पुरुष दोनों को ही एक साथ करने से सफलता प्राप्त होती है यह वर्णन पाया जाता है[२३]। इसलिये यज्ञादि कर्म करने का अधिकार स्त्री पुरुष दोनों को ही है।

द्वियज्ञ :- इस विषय में एक उद्धरण देते हुए शंका प्रस्तुत की है कि स्वराज्य की कामनावाले राजा और पुरोहित दोनों याग करें[२४]। इस याग को "**द्वियज्ञ**" कहते हैं क्योंकि दो पुरुषों (राजा और पुरोहित) ने मिलकर अग्न्याधान किया है। अग्न्याधान में दो पुरुषों का उल्लेख आया है, स्त्री का उल्लेख नहीं आया है इससे प्रतीत होता है कि स्त्री को यज्ञ कराने का अधिकार नहीं है[२५]।

द्विवचन का तात्पर्य :- इसका समाधान करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे[२६]। इस वाक्य में गुण वाचक ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त है अर्थात् ब्राह्मण के गुण। **(अध्ययन-अध्यापनादि)** जिस व्यक्ति में हो, वह वसन्त ऋतु में अग्न्याधान अर्थात् यज्ञ प्रारम्भ करे। इसी प्रकार जिस स्त्री में ब्राह्मण के गुण विद्यमान हों वह ब्राह्मणी वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करे। इस तरह गुण वाचक शब्द के ग्रहण करने से वे गुण ब्राह्मणत्वादि के चाहे स्त्री में हो या पुरुष में हो वह वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करे। इस प्राचीन वाक्य से स्पष्ट होता है कि स्त्री भी यज्ञ कर सकती है। यदि किसी वाक्य में द्विवचन आया है तो द्विवचन दो के लिये आता है इसलिये वह स्त्री और पुरुष दोनों के लिये ही है[२७]। अत: स्त्री भी यज्ञ करती है यह स्पष्ट है।

किस वर्ण को यज्ञ का अधिकार :- स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार है या नहीं इसका विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् चारों वर्णों ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र में यज्ञ का अधिकार किसको है यह वर्णन किया गया है। इस विषय में प्राचीन उद्धरण मिलते हैं कि ब्राह्मण वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करे[२८]। तथा शरद्

ऋतु में वैश्य अग्न्याधान करे[२९]। ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय[३०]। इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के अग्न्याधान (यज्ञ) करने का उल्लेख मिलता। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही यज्ञ करने का अधिकार है शूद्र को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। ऐसा अत्रि ऋषि का पुत्र आत्रेय मानता है[३१]।

योग्यतानुसार यज्ञ का अधिकार :- इस विषय में ऐसा नहीं है कि ब्राह्मणादि तीनों वर्णों को यज्ञ का अधिकार है और शूद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं है जिससे ऐसा सन्देह होता है कि चारों वर्णों में तीन वर्णों को श्रेष्ठ और एक वर्ण (शूद्र) को निम्न स्तर का माना गया है या वर्णों में ऊँच नीच की या भेद भाव की भावना प्राचीन काल में विद्यमान थी। इसका निराकरण करते हुए महर्षि जैमिनि ने बादरि ऋषि के मत का उल्लेख करते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि वैदिक कर्मों को करने का **अधिकार योग्यता** से मिलता है, वह **योग्यता नैमित्तिकी** है स्वाभाविकी नहीं है अर्थात् जिस व्यक्ति में अविद्या से संघर्ष करने की योग्यता होती है उसे ब्राह्मण, अन्याय से संघर्ष करने का सामर्थ्य रखने वाले को क्षत्रिय और अभाव को दूर करने की क्षमता रखने वाले को वैश्य कहते हैं। जिस अविद्या अन्याय और अभाव को दूर करने की योग्यता न हो उसे शूद्र कहते हैं। योग्यतावाले व्यक्ति को ही यज्ञादि वैदिक कर्मों को करने का अधिकार है। यज्ञ करने के अधिकार के लिये योग्यता वाचक शब्द है। योग्यता वाचक होने के कारण ही ब्राह्मणादि चारों को वर्ण कहा जाता है। शूद्र में जिस दिन अविद्या आदि को दूर करने की योग्यता आ जायगी उसी दिन वह शूद्र नहीं रहेगा अपितु 'ब्राह्मण' शब्द से सम्बोधित किया जायेगा। इसी योग्यता के होने और न होने के कारण ही स्मृति ग्रन्थों में लिखा है कि ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है और शूद्र भी ब्राह्मण बन जाता है[३२]। इसलिये शूद्र में सामर्थ्य न होने के कारण ही यज्ञ करने का निषेध किया है[३३]। ऊँच नीच की भावना को लेकर नहीं किया[३३]। अर्थात् जिन व्यक्तियों में योग्यता है उन सबको यज्ञ करने का अधिकार है।

सभी को यज्ञ एवं वेद का अधिकार :- इस विषय को अगले सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वेद के ज्ञान की प्राप्ति करने का सभी मनुष्यों को अधिकार है वैसे ही यज्ञ करने का सभी मनुष्यों को अधिकार है[३४]। जैसे यजुर्वेद (२६-२) में स्पष्ट ही आदेश है कि मैं वेदरूपी कल्याण करनेवाली वाणी का

सभी को उपदेश देता हूँ अर्थात् सभी वेद को पढ़ सकते है। **(यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः .. यजुर्वेद २६-२)** किन्तु सभी को अधिकार होने पर भी वेद वही व्यक्ति पढ़ सकता है जिसमें वेद पढ़ने की योग्यता हो, अयोग्य व्यक्ति वेद नहीं पढ़ सकता है वैसे ही योग्यतावाले सभी व्यक्ति यज्ञ कर सकते हैं। अयोग्य व्यक्ति को न पढ़ने और यज्ञ न कर सकने के कारण यज्ञ के अधिकार का निषेध किया है। लोगों ने ऋषियों के ग्रन्थों को ठीक से न समझने के कारण अनेक भ्रान्तियां पैदा कर दी हैं।

शूद्र शब्द का तात्पर्य :- शूद्र कोई जाति वाचक शब्द नहीं है अपितु उसमें विद्या का सामर्थ्य न होने के कारण ही उसे शूद्र कहा गया है अर्थात् जिसमें विद्या को प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं है। पढ़ाने पर भी जो पढ़ न सके या पढ़ाने की क्षमता जिसमें न आवे ऐसे व्यक्ति को शूद्र कहा जाता है। परमात्मा के पुत्र होने के कारण सभी मनुष्य समान हैं और जैसे परमेश्वर का ज्ञान (वेद) सभी प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये सभी को शिक्षा देना अनिवार्य है यही संकेत **'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः..... (यजु. २६.२)'** मन्त्र में किया गया है किन्तु जिसको पढ़ाने पर भी विद्या न आवे ऐसे व्यक्ति को शूद्र कहा है। शूद्र होने अर्थात् अशिक्षित होने, सामार्थ्यहीन होने के कारण उसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं है अर्थात् अशिक्षित होने के कारण यज्ञ करने का सामर्थ्य उसमें नहीं है[३५]। इसीलिये शूद्र को यज्ञ का निषेध किया है।

अंगहीन व्यक्ति :- सामर्थ्य हीन अयोग्य व्यक्ति (शूद्र) को जैसे यज्ञ का अधिकार नहीं है तो क्या वैसे ही अंगहीन व्यक्ति यज्ञ कर सकता है या नहीं इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जैसे विशाल नेत्रोंवाले व्यक्ति को धर्म करने का अधिकार है वह यज्ञादि धार्मिक कार्य कर सकता है वैसे ही किसी अंग से हीन व्यक्ति को भी वेदाध्ययन करने का अधिकार है[३६]।

रथकार (शिल्पी) को यज्ञ का अधिकार :- रथकार-शिल्पी को भी यज्ञ करने का अधिकार है क्योंकि वह यज्ञादि कर्म में ब्राह्मण को, शास्त्रादि का निर्माण करके क्षत्रिय को तथा कृषि कार्य के लिये, विविध कृषि के साधनों का निर्माण करके वैश्य को सहयोग प्रदान करता है। यह तीनों वर्णों का अंग (हिस्सा) है इसलिये इसे यज्ञ का अधिकार है ऐसा स्पष्ट ही प्राचीन ग्रन्थों में लिखा भी है कि

रथकार वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करे[३७]। इसलिये शिल्पियों को यज्ञ करने का अधिकार है यह विवेचन सूत्रकार ने किया है[३८]। शिल्पियों को यज्ञ का अधिकार है तथा इनको शूद्र नहीं कहा जा सकता इनकी गणना द्विजो में है यह वर्णन करते हुए सूत्रकार ने अगले सूत्र में लिखा है कि **'वर्षासु रथकार आदधीत'** वर्षा ऋतु में रथकार-शिल्पी अग्न्याधान (यज्ञ) करे[३९]। इस वाक्य से प्रमाणित होता है कि यज्ञ कर्म के साथ रथकार का सम्बन्ध होने से रथकार को शूद्र नहीं कह सकते हैं अपितु इनकी गणना द्विजों में की जाती है[४०]।

इस पाद के अन्त में सूत्रकार पुनः लिखते हैं कि विद्या रूपी गुण के कारण शूद्र को भी अग्न्याधानादि करने का अधिकार होता है अर्थात् जन्म से कोई भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण नहीं होता है। जन्म से जाति मानने में कोई भी निमित्त नहीं है। वैदिक मान्यताओं में शूद्र कोई जाति नहीं है सामर्थ्य हीन व्यक्ति को ही शूद्र कहा जाता है[४१]।

कर्ता कर्म करने में स्वतन्त्र :- मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है तथा फल को भोगने में परतन्त्र है। इस विषय का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि कर्तव्य कर्म में पुरुष की कर्ता रूप से श्रुति पाये जाने से कर्मों को करने में पुरुष का स्वतंत्र होना पाया जाता है[४२]। अर्थात् स्वर्ग की कामनावाला पुरुष याग करे। इन वाक्यों से स्पष्ट होता है, कि कामना करने न करने, यज्ञ करने न करने आदि में पुरुष स्वतंत्र है। यज्ञ करे या न करे इससे जीवात्मा की कर्म करने की स्वतंत्रता का बोध होता है। कर्ता की व्याख्या करते हुए महर्षि पाणिनि ने लिखा है कि **'स्वतंत्रः कर्ता'** अष्टाध्यायी (१-४-५४) अर्थात् किसी भी कार्य को करने या न करने में जो स्वतंत्र होता है उसे कर्ता कहते हैं।

स्वकर्म का फल भोग :- जीवात्मा कर्म करता है इसलिये उसका फल भोगता है, अपने किये हुए कर्मों का ही वह फल भोगता है। यही विषय अगले सूत्र में स्पष्ट किया है[४३]। अर्थात् अन्य पुरुष के किये कर्मों का फल अन्य पुरुष को नहीं प्राप्त होता है। इसी विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जीवात्मा का अपने किये हुए कर्मों के साथ सम्बन्ध होता है अतः उसे अपने किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है[४४]। इसलिये अन्यत्र भी लिखा है कि मनुष्य को अपने किये हुए शुभ अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। **(अवश्यमेव**

भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्) परमात्मा की यह कर्मफल व्यवस्था अटूट अर्थात् निश्चित है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। क्योंकि परमेश्वर सर्वज्ञ एवं पूर्ण है इसलिये उसकी व्यवस्था भी पूर्ण है उसमें कोई न्यूनता-अपूर्णता कमी नहीं है। इसलिये ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार भी जीवात्मा अपने ही किये हुए कर्मों का फल भोगता है अन्य के किये कर्मों का फल नहीं भोगता हैं[८५]।

शास्त्र की प्रामाणिकता :- मनुष्य के जीवन का लक्ष्य धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष को प्राप्त करना ये **पुरुषार्थ चतुष्टय** मानव जीवन के उद्देश्य हैं तथा जो शास्त्र इनका वर्णन करता है वही यथार्थ में शास्त्र है। शास्त्र में इन चारों के लिये कौन से कर्म करने चाहियें और कौन से कर्म नहीं करने चाहियें, इनका वर्णन किया गया है। जिसमें इन पुरुषार्थ चतुष्टय का वर्णन नहीं वह शास्त्र अपनी प्रामाणिकता का अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् वह प्रामाणिक नहीं है। यह सूत्रकार ने सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है[८६]।

फल प्राप्ति में परतन्त्रता :- अशुभ कर्म करनेवाला मनुष्य उसका फल दुःख के रूप में नहीं प्राप्त करना चाहता है फिर भी शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगता है। मनुष्य जवान से बूढ़ा नहीं होना चाहता है फिर भी बूढ़ा होता है, मनुष्य मरना नहीं चाहता है फिर भी मरता है। इस से पता लगता है कि मनुष्य के ऊपर कोई सर्वोपरि सत्ता है जो सभी मनुष्यों को अपनी व्यवस्था में रखता है, वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। जो मनुष्यों को अपने किये हुए अच्छे बुरे कर्मों का फल देता है। जीवात्मा को फल अपनी इच्छानुसार नहीं मिलता है वह फल भोगने में परतन्त्र है। कर्मों का फल देनेवाला परमात्मा है। वह सर्वशक्तिमान् है। ऐसा वर्णन करते हुए महर्षि जैमिनि लिखते हैं कि सर्वशक्तिमान् परमात्मा में प्रवृत्ति होती है क्योंकि ऐसा ही उपदेश पाया जाता है[८७]।

यज्ञ में पशुहिंसा का निषेध :- सभी जीवात्मा परमात्मा की सन्तति (सन्तान) के समान है। कोई भी माता पिता अपनी सन्तति की हत्या नहीं करना चाहता है इसलिये परमात्मा के दिये हुए ज्ञान वेद में किसी भी प्रकार की हिंसा का वर्णन नहीं है। इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि सम्पूर्ण रूप से यज्ञ में मद्य मांसादि पदार्थों का निषेध है। क्योंकि पशु हिंसा का निषेध वेदों में निश्चय पूर्वक मिलता है[८८]। अर्थात् यज्ञों में पशु हिंसा का समर्थन वेदों में नहीं है।

विश्वजित् यज्ञ :- यज्ञ करने के पश्चात् यज्ञ शेष का सभी को भक्षण

करना चाहिये यह वर्णन करते हुए लिखा है कि यज्ञ शेष का भक्षण करने का सब को अधिकार है क्योंकि यज्ञ इसी उद्देश्य से किया जाता है कि सब मिलकर ईश्वर की उपासना यज्ञ करें तथा यज्ञ शेष का भक्षण करें, यह सब को अधिकार है[४९]। विश्वजित् यज्ञ में सब पदार्थों का दान करे जैसा कि वर्णन मिलता है **"विश्वजिति सर्वस्वं ददाति"** अर्थात् यजमान विश्वजित् यज्ञ में सब पदार्थों का दान कर दे। यह वर्णन महर्षि जैमिनि ने भी किया है कि विश्वजित् याग में सबका दान करना चाहिये क्योंकि सामान्य रूप से सभी पदार्थों के दान का विधान पाया जाता है[५०]। यज्ञ की पूर्णता दक्षिणा देकर परमात्मा की स्तुति करके की जाती है। (६-७-९, १०)

मनुष्य की शतायु एवं अपरिवर्तित सृष्टि :- मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष है ऐसा वर्णन वेद में आता है। (**पश्येम शरदः शतम् , जीवेम शरदः शतम्...**) जैसे इस सृष्टि में मनुष्यों की आयु है जैसे इस सृष्टि में सूर्य चन्द्रमा आदि पदार्थ इस समय हैं वैसे ही पूर्व सृष्टि में भी थे ऐसा वर्णन वेद में आया है (**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम्...**) वेदों में आये हुए इन विषयों को महर्षि जैमिनि भी स्वीकार करते हैं यह उन्होंने लिखा है[५१]।

यज्ञ में पशु हिंसा वेद विरुद्ध : इस अध्याय के अन्त में महर्षि जैमिनि ने लिखा है कि यज्ञों में कोई भी पशु हिंसा का विधान नहीं है। इस विषय में पूर्वपक्ष उठाते हुए वे लिखते हैं कि वेद में बकरे को मार कर हवन करने का विधान किया है[५२]। इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं कि यज्ञों में हिंसा का वर्णन है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन का वेदमन्त्रों के साथ विरोध्र होता है[५३]। क्योंकि वेद में अनेक स्थलों में गौ आदि पशुओं को **अघ्न्या** अर्थात् हिंसा के योग्य नहीं हैं, **पशून् पाहि....** (यजु. १-१) अर्थात् पशुओं की रक्षा कर आदि वर्णनों से हिंसा के साथ विरोध होता है। परस्पर विरोधी बातें ईश्वरीय ज्ञान वेद में नहीं हैं। इसलिये वेदों में पशु हिंसा नहीं है और यज्ञों में भी पशु हिंसा नहीं होती है। यह मांन्यता महर्षि जैमिनि की रही है, जिसको बाद में आनेवाले मीमांसा के भाष्यकारों ने यज्ञों में पशु हिंसा को सिद्ध करने का प्रयास किया है जो मीमांसा शास्त्र के रचयिता की भावना के विरुद्ध है। इस ओर सर्व प्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

प्रमाण :

१ अथातः क्रत्वर्थ पुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥ (४-१-१)

२ यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्यलिप्ताऽर्थलक्षणाविभक्तत्वात् ॥ (४-१-२)

३ यजति नोदना द्रव्य देवता क्रियंसमुदाये कृतार्थत्वात् ॥ (४-२-२७)

४ एक वा चोदनैकत्वात् । (४-३-१४)

५ स-स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ (४-३-१५)

६ श्रुतिलक्षणमानु पूर्वं तत्प्रधानत्वात् ॥ (५-१-१)

७ मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात प्रयोगरूप सामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशःसः ॥ (५-१-१६)

८ फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥ (६-१-४)

९ कर्तु र्वाश्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ॥ (६-१-५)

१० लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुयुक्तमैतिशायनः ॥ (६-१-६)

११ जाति तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात्
स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥ (६-१-८)

१२ चोदितत्वाद्यथा श्रुति ॥ (६-१-९)

१३ द्रव्यतत्त्वात् तु पुंसां स्याद द्रव्य संयुक्तम् ...॥ (६-१-१०)

१४ तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥ (६-१-१२)

१५ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्म । वैशेः (१-१-२)

१६ फलोत्साहाविशेषात्तु ॥ (६-१-१३)

१७ अर्थेन न समवेतत्वात् ॥ (६-१-४)

१८ स्ववत्तामपि दर्शयति ॥ (६-१-१६)

१९ स्ववतोस्तुवचनादैककर्म्यं स्यात् ॥ (६-१-१७)

२० लिङ्गदर्शनाच्च ॥ (६-१-१८)

२१ क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥ (६-१-१९)

२२ फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाभि सम्बन्धः ॥ (६-१-२०)

२३ फलवत्तां च दर्शयति ॥ (६-१-२१)

२४ यथा एतेन द्वौ राजपुरोहितौ सायुज्य कामौ यजेयाताम्)

२५ द्वयाधानं च द्वियज्ञवत् ॥ (६-१-२२)

२६ वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत्)

२७ गुणस्य तु विधानत्वात् पत्न्य द्वितीय शब्दः स्यात् ॥ (६-१-२३)

२८ वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत ॥

२९ ग्रीष्मे राजन्यः ।

३० शरदि वैश्यः ॥

३१ निर्देशाद वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ॥ (६-१-२६)

३२ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मण श्चैतिशूद्रताम ।

३३ निमित्तार्थेन बादरिः तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात् ॥ (६-१-२७)

३४ अपि वान्यार्थदर्शनाद् यथा श्रुति प्रतीयेत ॥ (६-१-२८)

३५ अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥ (६-१-३६)

३६ उत्पत्तौ नित्य संयोगात् ॥ (६-१-४१)

३७ वर्षासु रथकार आदधीत ॥

३८ वचनाद् रथकारस्याधानेऽस्य सर्व शेषत्वात् ॥ (६-१-४३)

३९ वर्षासु रथकार आदधीत ॥

४० न्याय्यो वा कर्म संयोगात् शूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ॥ (६-१-४५)

४१ उत्क्रमनिमित्ततवम् ॥ (६-१-४९)

४२ प्रयोगे पुरुष श्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥ (६-२-३)

४३ अन्यार्थेनाभि सम्बन्ध' । (६-२-८)

४४ न समवायात् । (६-२-१२)

४५ न नित्यत्वात् । (६-२-१०)

४६ शास्त्राणां त्वर्थवत्वेन पुरुषार्थो विधीयेत तयोरसमवायित्वात्तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः । (६-२-२१)

४७ सर्व शक्तौ प्रवृत्ति स्यात्तथा भूतोपदेशात् ॥ (६-३-१)

४८ प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तत् श्रुतिः ॥ (६-३-२०)

४९ सर्वै र्वा समवायात्स्यात् ॥ (६-४-५)

५० स्वदाने सर्वमविशेषात् । (६-७-१)

५१ परकृति पुराकल्पं च मनुष्य धर्मः.... (६-७-२६) निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात् पञ्चावन्तवत् । (६-७-२८)

५२ छागो वा मंत्रवर्णात् ॥ (६-८-३१)

५३ न चोदना विराधात् ॥ (६-८-३२)

मीमांसा दर्शन

सप्तम अध्याय से द्वादश तक

मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय से षष्ठ अध्याय तक सरल भाषा में हिन्दी भाष्य पं. आर्यमुनिजी का उपलब्ध है जो हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर (हरि.) से प्रकाशित हुआ है। षष्ठाध्याय पर्यन्त इसी भाष्य का सहयोग लिया गया है। सप्तम अध्याय से द्वादश अध्याय तक भाष्य पं. मायाशंकर शर्मा ने गुजराती भाषा में किया है जिसका हिन्दी में अनुवाद डॉ. भवानीलालजी भारतीय ने किया है जिसका प्रकाशन भी हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर रोहतक (हरि.) से हुआ है। इस भाष्य तथा स्वा. जगदीश्वरानन्दजी के किये हुए हिन्दी अनुवाद का सहयोग इस पुस्तक में लिया गया है।

अध्याय परिचय विविध यज्ञ एवं उनके धर्म : सप्तम अध्याय में चार पाद हैं तथा इसमें १०० सूत्र हैं। इस दर्शन में **दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, राजसूय** आदि विविध यज्ञों का वर्णन किया गया है। दर्शपूर्णमास यज्ञ के समीप पढ़े हुए प्रयाज आदि अपूर्व धर्म, इसी यज्ञ के हैं अथवा सभी यागों (यज्ञों) के सामान्य धर्म हैं। इस विषय में सन्देह होता हैं। इस विषय में शंका प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है और वह एक ही होता है इसलिए याग (यज्ञ) के बताये गये धर्म सभी यागों (यज्ञो) के धर्म हैं जैसे **''गौ पदा न स्प्रष्टव्या''** अर्थात् गाय को पैर से नहीं छूना चाहिये। यह आदेश किसी एक गाय विशेष के लिये नहीं है अपितु सभी गायों को पैर से छूने का मना करता है। इसी प्रकार प्रयाजादि अपूर्व धर्म सभी यागों के हैं किसी एक याग के नहीं हैं[१]। इसका समाधान करते हुए लिखा है जिस यज्ञ (याग) के जो प्रयाज आदि अपूर्व धर्म कहे गये हैं वे उसी याग (यज्ञ) के होते हैं। सभी यागों (यज्ञों) के नहीं होते हैं[२]।

अपूर्व धर्म के कारण कर्म का फल :- मनुष्य को कर्म का फल प्राप्त होता है जैसे बीज से अंकुर निकलता है। कर्म और फल में मीमांसा के अनुसार बीज और अंकुर में एक 'अपूर्व' धर्म होता है, जिसके कारण कर्म का फल प्राप्त होता है, अर्थात् कर्म की योग्यता के कारण ही फल मिलता है। यदि वह योग्यता

या अपूर्व धर्म समाप्त हो जाय तो फल नहीं प्राप्त होता है। जैसे बीज से अंकुर निकलता है किन्तु यदि बीज को अग्नि में भून दिया जाय तो वह अंकुरित नहीं हो सकता है क्योंकि उसका अपूर्व धर्म (योग्यता या शक्ति) नष्ट हो गया है। अतः कर्म के पश्चात् और फल से पहले प्रत्येक कर्म का अपूर्व धर्म होता है। **"स्वर्गकामो यजेत्"** इस वाक्य में यज्ञ (याग) कर्म का फल स्वर्ग है। किन्तु अपूर्व धर्म जो स्वर्ग को उत्पन्न या प्राप्त कराता है वह याग-यज्ञ से ही उत्पन्न होता है इसलिये जिस जिस याग के पश्चात् जो जो अपूर्व धर्म उत्पन्न हुआ, वह वह प्रयाजादि अपूर्व धर्म उस उस याग का फल होता है। सभी यागों का प्रयाजादि अपूर्व धर्म नहीं है, अपितु दर्शपूर्णमास याग के ही धर्म हैं।

गाय को पैर से नहीं छूना चाहिये **(गौः पदा न स्प्रष्टव्या)** इस वाक्य से गोत्व जाति अर्थात् सभी गायों का ज्ञान होता है। गोत्व धर्म सभी गायों में विद्यमान है जिसके कारण सभी गायों को गाय कहा जाता है। जिसके धर्म के कारण हम सभी गायों को गाय समझते हैं वही धर्म जाति है किन्तु गोत्व धर्म गाय व्यक्ति (प्राणी) में रहता है जैसे सफेद, लाल, पीला आदि गुण किसी पदार्थ में रहते हैं, अलग से नहीं रहते हैं, इसलिये गो शब्द से गो जाति का ग्रहण करते हैं कि गाय प्राणी को पैर से नहीं छूना चाहिये[३]।

सामगान :- सामवेद की ऋचाओं से गान किया जाता है। इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है कि जैसे अनेक प्रकार के गान लौकिक भाषा में किये जाते हैं और उनके पृथक् पृथक् नाम होते हैं वैसे ही सामवेद के पृथक् पृथक् गान होते हैं उनके अलग अलग नाम होते हैं। किसी को रथन्तर साम तो किसी को बृहत् साम कहते हैं। इन वैदिक सामगान का स्वरूप अलग अलग होता है[४]। वैदिक ऋचाओं का उच्चारण करके जब कोई काम किया जाता है। पृथक् पृथक् ऋचाओं का गान भी पृथक् पृथक् होता है। इस साम गान की प्रक्रिया का ज्ञान गान विद्या के निष्णात गुरुजनों से सीखना चाहियें[५]। अर्थात् रथन्तर बृहत् सामादि संज्ञाओं के अर्थ अलौकिक होते हैं जिन्हें गुरुओं के द्वारा ही जान सकते हैं।

अग्निहोत्र :- "अग्निहोत्र" शब्द का प्रयोग नित्य अग्निहोत्र के लिये तथा एक मास अग्निहोत्र करे तो **"मासमग्निहोत्रं जुहोति"** इस प्रकरण में भी अग्निहोत्र शब्द प्रयुक्त होता है। इन दोनों ही स्थलों पर आये हुए अग्निहोत्र शब्द का अर्थ समान है अर्थात् नित्य अग्निहोत्र के धर्मों का अतिदेश मास अग्निहोत्र में भी किया

गया हैं यह उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने लिखाते है कि अग्निहोत्र नामक क्रिया का उल्लेख जो इस पाद में किया हैं दूसरे स्थान में कहे गये अग्निहोत्र में इस शब्द के धर्म का अतिदेश हैं[६]। अर्थात् दोनों स्थलों पर अग्निहोत्र क्रिया समान है। इस विषय का अगले सूत्र में वर्णन करते हुए लिखा है कि मासाग्निहोत्र में भी जो अग्निहोत्र शब्द है जिसका एक मास तक जो हवन किया जाता है यह अर्थ है। जो हवन नित्य किया जाता है उसे **नित्य अग्निहोत्र** कहते हैं अर्थात् दोनों स्थलों पर क्रियाएं तथा शब्द समान हैं[७]।

गायत्री जगती आदि छन्द :- वेदमन्त्र गायत्री-त्रिष्टुप् जगती आदि छन्दों में विद्यमान हैं। **चौबीस अक्षर** जिस मन्त्र में होते हैं उस मन्त्र का छन्द **गायत्री छन्द** कहलाता है। **जगती छन्द में ४८** अक्षर होते हैं। गायत्री छन्द वाचक शब्द केवल चौबीस संख्या का वाचक नहीं है अपितु चौबीस अक्षर जिस मन्त्र (ऋचा) में होते हैं उस मन्त्र को गायत्री मन्त्र कहते हैं[८]। यदि केवल चौबीस संख्या को ही गायत्री नाम से सम्बोधित किया जाय तो चौबीस घड़ों को गायत्री घड़े या चौबीस गायों को गायत्री गायें कहकर सम्बोधित करेगा किन्तु ऐसा नहीं होता है। चौबीस अक्षरवाली ऋचा (मन्त्र) को गायत्री कहा जाता है। इस विषय में एक तर्क देते हुए अगले सूत्र में लिखा है कि जो गमन गति करता है अर्थात् चलता है उसे गौ कहते हैं, गमन करने वाले सभी पदार्थों और प्राणियों का वाचक गौ शब्द है किन्तु 'गाय' के लिये ही गौ शब्द प्रयुक्त होता है वैसे ही गायत्री शब्द चौबीस अक्षरवाले मन्त्र (ऋचा) के लिये ही प्रयुक्त होता है[९]। ऋग्वेद के मन्त्रों में गायत्री -जगती-त्रिष्टुप् आदि छंन्द पाये जाते हैं। इसलिये ऋग्वेद के मन्त्र इन्हीं नामों से कहे जाते हैं अर्थात् चौबीस अक्षरवाले मन्त्र को गायत्री मन्त्र के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है अन्य नाम का प्रयोग 'गायत्री' छन्द के स्थान पर दूसरा शब्द प्रयुक्त नहीं होता है[१०]।

यज्ञ का फल :- यजमान जिस कामना को लेकर यज्ञ करता है यज्ञ का देवता अर्थात् परमात्मा उसकी कामना को (इच्छा को) पूरी करता हैं। यज्ञ में मन्त्रों द्वारा अग्नि-इन्द्र सोम आदि देवताओं के निमित्त यजमान जिस अर्थ की याचना करता है यज्ञ से प्रसन्न होनेवाले देवता यजमान की इच्छा पूरी करते हैं[११]। स्वर्गादि सब फलों का स्वामी यज्ञ का देवता है अतः जिस जिस फल की कामना से यज्ञ किया जाता है उस उस फल की प्राप्ति होती है[१२]। यज्ञ का फल यज्ञ का

देवता यजमान को देती है फिर भी फल की प्राप्ति का कारण तो यज्ञ ही है। यज्ञ और फल के बीच में अपूर्व है तथा अपूर्व याग (यज्ञ) से ही उत्पन्न होता है, इसलिये फल का मुख्य कारण तो अपूर्व है जिसके कारण यज्ञ देवता यजमान को फल देता है, '**अपूर्व**' यज्ञ का वह धर्म या योग्यता है जिसके कारण यजमान फल प्राप्त करता हैं[१३]। अर्थात् फल का मुख्य कारण यज्ञ का 'अपूर्व' धर्म है और अप्रधान गौण (सहयोगी) कारण यज्ञ का देवता है। **अतिथि यज्ञ** में अतिथि को भोजन करा कर उसको सन्तुष्ट और प्रसन्न किया जाता है क्योंकि कहा भी है "**अतिथि येन सन्तुष्टः तथा कुर्यात् प्रयत्नतः**" किन्तु यज्ञ में ऐसा कोई विधान नहीं है कि अग्नि इन्द्रादि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ में हवि दी जाती है। अतिथि के समान अग्नि इन्द्रादि देवताओं का मानवीय शरीर भी नहीं है। इसलिये अतिथि के समान अग्न्यादि देवताओं की तुलना नहीं की जा सकती है[१४]।

सामगान :- सामवेद के मन्त्रों का गान किया जाता है इस विषय का विवेचन इस दर्शन के **सप्तम अध्याय** में भी किया गया है तथा **नवम अध्याय** के द्वितीय पाद में पुनः वर्णन करते हुए लिखा है कि कितने ही आचार्यों ने मन्त्रों को साम माना है। अनेक आचार्य रथन्तर-वैराज-बृहद्वैरूप आदि गान विशिष्ट ऋचाओं को साम मानते हैं। इस विषय में यह प्रमाण दिया जाता है कि "**प्रगीते मन्त्रः साम**" अर्थात् गाये हुए मन्त्र साम हैं यह स्मृति हैं। अन्यत्र भी गुरु शिष्य को उपदेश देता है कि "**रथन्तरं पठ**" अर्थात् रथन्तर साम पढ़ इस उपदेश से भी ज्ञात होता है शिष्य गान विशिष्ट ऋचाओं को ही पढ़ता है। इस तरह स्मृति और उपदेश के कारण गान विशिष्ट ऋचाओं को साम कहते हैं[१५]।

सामगान का महत्त्व :- गान के महत्त्व और उपयोगिता का वर्णन करते हुए गान प्रसंग में कहा गया है कि गान क्रिया के द्वारा ऋचाओं के वर्णों का संस्कार होता है। इससे वर्ण अधिक स्पष्ट और अभिव्यक्त होते हैं यह गान क्रिया का स्पष्ट फल है[१६]। इस विषय में आगे लिखा है कि रथन्तर साम गान से ऋचा के अक्षरों की अभिव्यक्ति होती है तथा इन अक्षरों के द्वारा देवता की स्तुति भी होती है इससे भी यही प्रतीत होता है ? कि साम गान का फल प्रत्यक्ष है[१७]। साम गान की विधि का प्रयोग कब किया जाता है और इसका फल कब प्राप्त होता है इस विषय का भी वर्णन इस प्रसंग में किया है। इस विधि के प्रयोग करने के

अतिरिक्त समय में अध्ययन के समय जब सामगान का अभ्यास किया जाता है तब इस विषय में लिखा है कि अध्ययन काल में जो गान किया जाता है वह अभ्यास के लिये गान होता है। अध्ययन के समय गान करने से गान करने में पटुता-होशियारी आती है। जिससे प्रयोग करने के समय विना स्मरण के ही सामगान करने में व्यक्ति सफल हो जाता है[१८]।

सामवेद की शाखाएं :- विद्या की विविध प्रक्रियाओं के कारण ही सामवेद की **एक हजार शाखाएं** हो गयी है ऐसा उल्लेख महाभाष्यादि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है[१९]। मीमांसा में इसी विषय में उल्लेख है कि सामवेद में गीति (गान) के उपाय बहुत हैं[२०]। अर्थात् गीत के एक हजार उपाय सामवेद के कहे गये हैं। यह शाबर भाष्य में कहा गया है। गीति (गान) एक प्रकार की क्रिया है जो स्वर विशेष से वर्णों को अभिव्यक्त करती हैं[२१]।

मुख्य और गौण :- मीमांसा में अनेक विषयों का विवेचन विविध प्रकरणों के द्वारा शास्त्रकार ने इस शास्त्र में किया है। इस प्रकार एक प्रकरण की चर्चा करते हुए लिखा है कि किसी वैद्य ने रोगी से कहा कि तुम दूध का सेवन मत करो। दूध के सेवन का मना करने पर, जिस भोजन में या भात में दूध मिला हुआ है उसका भी निषेध स्वतः हो जाता है कि इसको भी तुम्हें नहीं खाना चाहिये क्योंकि इसमें भी दूध मिला हुआ है। **दूध मिले हुए भात या भोजन में दूध मुख्य है और भात या भोजन गौण है** जिसका निषेध हो रहा है। अर्थात् मुख्य रूप से रोगी को दूध के सेवन का मना किया है। भोजन या भात का सेवन रोगी कर सकता है[२२]।

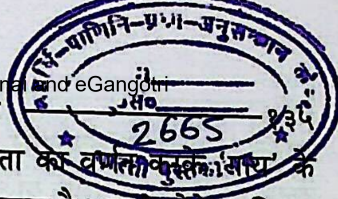
व्रतभंग के कारण निषेध :- इसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिये मद्य और मांस आदि त्याज्य बताया गया है क्योंकि मांसादि के खाने से उसका व्रत भंग हो जाता है। केवल मांस का ही निषेध नहीं है अपितु जिस खाद्य पदार्थ में मांस संलग्न है उसका भक्षण करने से भी व्रत भंग हो जाता है। इसलिये मांस और मद्य आदि का ही सेवन नहीं करना चाहिये अपितु जिन पदार्थों में मद्य मांसादि होते हैं उनके सेवन करने से भी व्रत भंग होता है। अतः व्रत भंग के दोष से बचने के लिये इनके सेवन का निषेध है[२३]।

दक्षिणा की महत्ता :- यज्ञ कराने के लिये यजमान ऋत्विजों को आमन्त्रित करके उनसे यज्ञ सम्पन्न कराने के लिये निवेदन करता है। ऋत्विज यज्ञ

कराते हैं। यजमान ऋत्विजों का स्वागत करता है उनको दान दक्षिणादि देता है। इस विषय में महर्षि जैमिनि लिखते हैं कि ऋत्विजों को जो दान दिया जाता है वह केवल धर्ममात्र है। उसकी कर्तव्यता सुनी जाती है[२४]। तथा कर्तव्यता ददाति शब्द के सामर्थ्य से सिद्ध है। **"ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति"** अर्थात् यजमान ऋत्विजों को दक्षिणां देता है यह प्रमाण यज्ञ के सम्बन्ध में मिलता है। इसी विषय में आगे लिखा है कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में जो दक्षिणा दी जाती है वह लोक व्यवहार के समान ऋत्विजों की सेवाओं के पारिश्रमिक रूप में दी जाती है[२५]। अर्थात् लौकिक व्यवहार में यह देखने में आता है कि किसी व्यक्ति से कुछ काम लिया जाता है तो उसके बदले में उसको पारिश्रमिक के रूप में कुछ धन दिया जाता है। वैसे ही यज्ञ का कार्य सम्पन्न करानेवाले ऋत्विजों को उनके पारिश्रमिक के रूप में दक्षिणा दी जाती है।

दक्षिणाविहीन यज्ञ :- सामान्यतया यज्ञों में ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है किन्तु कुछ यज्ञ ऐसे रहे हैं जिनमें ऋत्विजों को दक्षिणा देने का विधान नहीं किया गया है। इस विषय में लिखा है कि **सत्र नामक याग** में ऋत्विजों का वरण नहीं किया जाता और उनको दक्षिणा भी नहीं दी जाती है क्योंकि सत्र नामक यज्ञ अपने ही लिये किया जाता है[२६]। अर्थात् सत्र नामक याग में ऋत्विज स्वयं ही यजमान होता है, सत्र याग ऋत्विजों का ही होता है, उनको अपने लिये ही कर्म करना है, इसके लिये अन्य ऋत्विज का वरण नहीं होता। अतः वरण न होने से दक्षिणा भी नहीं दी जाती है। इस विषय में अगले सूत्र में लिखा है कि सत्र अपने लिये ही होने से उसमें दक्षिणा नहीं दी जाती है[२७]। अर्थात् सत्र दूसरों के लिये न होकर अपने लिये होता है। इसलिये इसमें गौ वस्त्र सुवर्ण आदि कुछ भी नहीं दिया जाता है।

वैदिक शब्दों की सार्थकता :- लौकिक भाषा में जैसे शब्दों के अर्थ होते हैं वैसे ही वेदों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ होते हैं। वेदों के सभी शब्द सार्थक हैं इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि लौकिक भाषा के समान वेद में भी शब्दों का अर्थ होता है[२८]। जैसे लौकिक भाषा में **"शतं गावः"** का अर्थ सौ गायें होता है। गौ शब्द का अर्थ गाय ही लिया जाता है इस शब्द का अर्थ गाय का विजातीय प्राणी हाथी, घोड़ा आदि नहीं लिया जाता है। वैसे ही वेद में आये गौ शब्द का अर्थ गाय ही लिया जाता है हाथी, घोड़ा आदि नहीं लिया जाता है।



गो महिमा :- वेदों के शब्दों की सार्थकता का वर्णन करके 'गाय' के महत्त्व का वर्णन किया गया है। गौ का दान दिया जाता है। हाथी घोड़े आदि का क्यों नहीं दिया जाता है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि गाय बहुत ही उपकारक पशु है इसी लिये गायों के दान करने का वर्णन मिलता है[२९]। इसी प्रसंग में आगे लिखा है कि विशेष्य की आकांक्षा में शास्त्र में सर्वप्रथम गौ का ही प्रतिपादन किया है[३०]। अर्थात् शास्त्रों में पशुओं का वर्णन जहां किया गया है वहां सर्व प्रथम गौ का वर्णन किया गया है। गाय का सर्व प्रथम वर्णन आने से भी गाय के महत्त्व का बोध होता है। जब तक इसका कोई विरोधी प्रमाण न मिले अर्थात् सर्वप्रथम गाय के स्थान पर हाथी, घोड़े आदि का उल्लेख न मिले, तब तक गौ की महत्ता का त्याग नहीं किया जा सकता है। अन्यत्र शास्त्रों में भी गोदान का विधान मिलता है यह भी सूत्रकार ने स्पष्ट किया है[३१]। अर्थात् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में गोदान का वर्णन मिलता है जैसे **ते संवत्सर एकां गामसृजन्तेति...** शास्त्र प्रमाण से भी स्पष्ट होता है कि ज्योतिष्टोम याग में गो दक्षिणा दी जाती है।

दान दक्षिणा की मात्रा :- दान किस व्यक्ति को कितना दिया जाय इस विषय में भी इस प्रसंग में लिखा है कि लेने वाले की योग्यता के अनुसार ही उसको गौओं का दान देना चाहिये[३२]। जैसे लोक में लकड़हारों को उनका स्वामी विभाग करके अलग अलग उनको मजदूरी देता है वैसे ही यजमान सभी ऋत्विजों को अलग अलग दक्षिणा दें। श्रुति भी ऐसा ही विभाग करके दक्षिणा देने का संकेत करती है[३३]। ऋत्विजों को दक्षिणा उनकी योग्यता और परिश्रम तथा कार्य क्षमता के अनुसार दी जाती है। सभी ऋत्विजों की योग्यतादि समान न होने के कारण उनकी दक्षिणा भी समान नहीं होती है। किसी को अधिक तो किसी को कम मिलती है यह भी सूत्रकार ने स्पष्ट किया है[३४]।

वैदिक शब्द अपरिवर्तित :- संस्कृत में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं तथा एक अर्थ के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग होता है जैसे अग्नि के लिये वह्निः, पावकः इत्यादि, पानी के लिये वारि, जलम्, नीरम्, पयः आदि। वेदों में भी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं जैसे गौ शब्द का अर्थ गाय, पृथ्वी, सूर्य इत्यादि इसी प्रकार अग्नि शब्द भी वह्नि पावक इत्यादि अग्नि अर्थ में पृथक् पृथक् स्थलों पर प्रयुक्त होते हैं। लौकिक संस्कृत में "वहां पानी है" को "तत्र जलम्

अस्ति'' अथवा, ''**तत्र वारि अस्ति**'' इत्यादि प्रकार से कह सकते हैं अर्थात् जलम् के स्थान पर वारि या नीर शब्द का प्रयोग किया जाता है किन्तु वेद के जिस मन्त्र में अग्नि शब्द प्रयोग किया है वहां अग्नि के स्थान पर पावक या वह्नि शब्द का प्रयोग नहीं होता है। यज्ञों में भी वेदमन्त्रों द्वारा जिस देवता को आहुति दी जाती है उस देवता के वाचक शब्द का पर्याय वाचक शब्द का प्रयोग यज्ञ में परिवर्तित नहीं होता है **अग्निमीळे** के स्थान पर **वह्निम् ईडे** प्रयोग नहीं हो सकता है, इसी विषय में सूत्रकार लिखते हैं कि मन्त्र सम्बन्धी देवता वाचक शब्द का उच्चारण होना चाहिये[३५]। अर्थात् **अग्नये स्वाहा** के स्थान पर '**वह्नये स्वाहा**' का प्रयोग नहीं हो सकता है।

सामगान के विविध नाम :- वैदिक ऋचाओं का सामगान किया जाता है उनके नाम रथन्तर, बृहद्, वैरूप, वैराज, शाक्कर रैवतादि हैं। यज्ञ में एक ही ऋचा का सामगान बार बार किया जाता है जैसे अध्ययन करने के समय सामगान किया जाता है वैसे ही यज्ञ में एक ही ऋचा का सामगान करना चाहिये[३६]। यह पूर्व पक्ष के रूप में लिखकर इसके बाद सिद्धान्त रूप में लिखा है कि तीन ऋचाओं का सामगान करना चाहिये ऐसे प्रमाण मिलते हैं यह सूत्रकार ने स्पष्ट किया है[३७]।

दीक्षा और दीक्षित ऋत्विज :- इसी पाद में आगे लिखा है कि सत्र रूप **द्वादशाह नामक याग** में सभी ऋत्विज दीक्षा लेते हैं और दीक्षित ऋत्विजों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए तथा ब्रह्मचारियों को '**मधु**' के सेवन करने का निषेध है। इसलिये सत्र नामक याग में ऋत्विजों को मधु भक्षण नहीं करना चाहिये[३८]। इस सूत्र द्वारा पूर्व पक्ष रखकर इस विषय में सिद्धान्त रूप में अगले सूत्र में लिखा है कि ब्रह्मचारियों को रस युक्त भोजन में राग नहीं होना चाहिंये। परन्तु यज्ञ में रसयुक्त भोजन मिले तो कर लेना चाहिये। भोजन के प्रति याज्ञिक ऋत्विजों की आसक्ति नहीं होनी चाहिये, जैसा भोजन मिले वह ग्रहण कर लेना चाहिये। ऋत्विजों को भोजन के प्रति आसक्ति से रहित होनां चाहिये यह भाव इस सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है[३९]।

कितनी बार दक्षिणा :- ऋत्विज यजमान का यज्ञ सम्पन्न कराते हैं। यजमान इसके निमित्त ऋत्विजों को दक्षिणा देता है। इसलिये जो यज्ञ एक से अधिक दिनों तक होते हैं उन यज्ञों में यजमान प्रतिदिन दक्षिणा दे या यज्ञ की

समाप्ति पर एक ही बार दक्षिणा दे। इस विषय में सूत्रकार ने लिखा है कि सम्पूर्ण क्रतु (यज्ञ) कराना यह ऋत्विज का कर्म है और इसके लिये इन्हें दक्षिणा भी दी जाती है। ऋत्विज जिस काम को कराना स्वीकार करते हैं वह काम (यज्ञ) एक है। अतः दक्षिणा भी एक ही होनी चाहिये। अर्थात् दक्षिणा यज्ञ की समाप्ति पर एक बार ही देनी चाहिये[४०]। यही सिद्धान्त है।

काम्यकर्म :- किसी कामना को पूरा करने के लिये या उसके निमित्त यज्ञादि काम्य कर्म बार बार किये जा सकते हैं या नहीं, इस विषय में महर्षि जैमिनि ने लिखा है कि जैसे किसान प्रतिवर्ष खेती करता है और फल (फसल) प्राप्त करता है वैसे ही काम्य कर्म का अनुष्ठान करने से उसका भी फल प्राप्त होता है। जैसे बार बार कर्म करने से बार बार फल मिलता है वैसे जब जब कामना हो तब तब काम्य कर्म को करने से फल प्राप्त किया जा सकता है[४१]। इसी विषय में अगले सूत्र में लिखा है कि जितने भी अनुष्ठान करने योग्य काम्य कर्म हैं उन सभी का अधिकार बार बार करने में होता है। अर्थात् उनको बार बार करना चाहिये[४२]।

काम्य कर्म की आवृत्ति :- इस विषय में शंका प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि काम्य कर्म को एक बार करने से विधि चरितार्थ हो जाती है फिर दूसरी बार कर्म करने का प्रसंग ही उत्पन्न नहीं होता है[४३]। जैसे गुरु ने किसी शिष्य से कहा कि काष्ठ (लकड़ी) लाओ, शिष्य एक बार काष्ठ लाकर गुरु की आज्ञा पालन कर लेता है वैसे ही काम्य कर्म की विधि एक बार चरितार्थ होने पर उसकी पुनः आवश्यकता नहीं होती है[४४]। इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि विधि वचनों से केवल काम्य कर्मों को करने का ज्ञान होता है चाहे एक बार करो या अनेक बार करो, जब जब फल की इच्छा हो तब तब काम्य कर्म करना चाहिये। इसलिये काम्य कर्म की आवृत्ति हो सकती है। लौकिक कर्म का फल तो प्रत्यक्ष है, गुरु ने शिष्य को आज्ञा दी, शिष्य काष्ठ लाता है। अतः फल की इच्छा होने पर काम्य कर्म बार बार कर लेना चाहिये[४५]।

ऋत्विजों एवं यज्ञ पात्रों का उपयोग :- एक याग (यज्ञ) को जिन ऋत्विजों ने कराया क्या वे ही ऋत्विज उस यजमान के यहां दूसरा याग (यज्ञ) करा सकते हैं या नहीं। तथा जिन पात्रों का उपयोग प्रथम याग में हुआ है उन पात्रों का उपयोग दूसरे याग (यज्ञ) में हो सकता है या नहीं इस विषय में सूत्रकार

ने लिखा है कि एक याग (यज्ञ) में उपयोग किये हुए पात्रों का उपयोग दूसरे याग में हो सकता है या नहीं अथवा दूसरे याग में उन्हीं ऋत्विजों को आमन्त्रित किया जा सकता है या नहीं, यह यजमान की इच्छा पर निर्भर है यदि वह चाहे तो देश (स्थान) पात्र तथा ऋत्विजादि परिवर्तित कर सकता या उन्हीं को रख सकता है[४६]।

ऋत्विग्वरण :- ऋत्विजों का वरण यज्ञ के प्रारम्भ में होता हैं तथा जिन ऋत्विजों का वरण हो जाता है वे ही यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त कर्म कराते हैं, यज्ञ कर्म उन्हें मध्य में नहीं छोड़ना-चाहिये। एक बार ऋत्विज वरण करने पर यत्नलाघव भी होता है[४७]।

यज्ञ कर्म में अवकाश नहीं :- यज्ञादि नित्य कर्मों में कभी अवकाश नहीं होता है वे प्रतिदिन ही करने होते हैं। जहां कही अनध्याय का वर्णन है वह केवल विद्याध्ययन के लिये है, यज्ञ के लिये नहीं। यज्ञ में तो सभी दिनों में पाठ हो सकता है क्योंकि मन्त्रों का प्रयोजन यज्ञ कर्मों के अनुष्ठान के लिये ही है[४८]। यज्ञ में क्रिया मन्त्रपाठ के बाद होती है। इस विषय में लिखा है कि मन्त्र क्रिया करने के लिये होते हैं इसलिये मन्त्रपाठ पूरा होने के पश्चात् कर्म प्रारम्भ करना चाहिये। क्योंकि पूरा मन्त्र समस्त अर्थ को बतलाता है[४९]। अर्थात् कर्मकाण्ड में अमुक मन्त्र से अमुक कर्म करना चाहिये ऐसा जहां भी उल्लेख हुआ है वहां सम्पूर्ण मन्त्र बोलकर ही कर्म करना चाहिये।

ऋत्विक् कर्म का अधिकारी :- यज्ञ को सम्पन्न ऋत्विज करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय-वैश्यादि सभी वर्णों के लोग यज्ञ करा सकते हैं या किसी एक वर्ण के ही व्यक्ति ऋत्विज हो सकते हैं। इस विषय में मीमांसा शास्त्र के अन्त में सूत्रकार लिखते है कि स्मृति के प्रमाण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वर्ण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है[५०]। अर्थात् यज्ञ कराना, अध्ययन कराना, दक्षिणा, लेना ये ब्राह्मणों के कर्म हैं। ऐसा स्मृति ग्रन्थों में मिलता है तथा इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यज्ञ कराना और दक्षिणा लेना ये ब्राह्मण के कर्म है अतः ब्राह्मण ही ऋत्विज होते हैं। अन्य तर्क देकर शास्त्र के अन्त में सूत्रकार ने लिखा है कि दक्षिणा लेने का भी ब्राह्मण का ही अधिकार होने से भी ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है[५१]।

इस प्रकार विविध विषयों का महर्षि जैमिनि ने इस विशालकाय ग्रन्थ में

विवेचन किया है। मध्यकाल में अनेक व्याख्याकारों ने अपनी विचारधारा को इस शास्त्र पर थोपने का प्रयास किया हैं जिसके कारण अनेक भ्रान्तियां इस शास्त्र के विषय में प्रचलित हो गयी हैं जैसे इस में पशु हिंसा का विधान है, या यह शास्त्र ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता हैं आदि। जिनका समाधान इस शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने किया है जिनके नामों का उल्लेख प्रारम्भ में किया है, उनके भाष्य व टीका और व्याख्या को पढ़ने की रुचि पाठकों में जागृत हो। भारतीय दर्शन का श्रद्धापूर्वक अध्ययन व मनन करें। इसी भावना से इस पर लिखने का दुःसाहस किया है। विषय सरल भाषा में रोचक बना रहे इस का विशेष ध्यान रखकर ही क्लिष्ट विषयों और प्रसंगों को छोड़कर सामान्य विषयों की रूप रेखा यहाँ दी गयी है।

***

प्रमाण।

१. *उत्पत्त्यर्थविभागाद्वा सत्त्ववदैक्य धर्म्यंस्यात् ॥ (७-१-२)*
२. *चोदनाविशेषभावाद् वा तद्भेदाद् व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥ (७-१-३)*
३. *सत्त्वे लक्षणसंयोगात् सार्वत्रिकं प्रतीयेत। (७-१-४)*
४. *तस्मिन संज्ञाविशेषाः स्युर्विकारपृथकत्वात् ॥ (७-२-१६)*
५. *तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यसाम लौकिको विधानात् ॥ (७-२-१५)*
६. *उक्तक्रियाभिधानं तत् श्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् ॥ (७-[illegible])*



७. *अपूर्वे वाऽपि भागित्वात् ॥ (७-१-२)*
८. *गुणाद् वा द्रव्य शब्दः स्याद् सर्व विषयत्वात् ॥ (८-३-१६*
९. *गोत्वक्च्च समन्वयः ॥ (८-३-१७)*
१०. *इतरस्याश्रुतत्वाच्च ॥ (८-३-१९)*
११. *अर्थापत्या च ॥ (९-१-७)*
१२. *ततश्च तेन सम्बन्धः ॥ (९-१-८)*
१३. *अपि वा शब्द पूर्वत्वाद् यज्ञ कर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवता श्रुतिः ॥ (९-१-९)*
१४. *अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात् तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् ॥ (९-१-१०)*
१५. *सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥ (९-२-१)*
१६. *शब्दार्थत्वात् तु नैवं स्यात् ॥ (९-२-६)*
१७. *परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ॥ (९-२-७)*
१८. *ग्रहणार्थं प्रतीयेत ॥ (९-२-१३)*
१९. *सहस्रवर्त्मा सामवेदः ॥*
२०. *सामवेदे सहस्र गीत्युपायाः ॥*
२१. *अर्थैकत्वात् विकल्पः स्यात् ॥ (९-२-२९)*
२२. *वर्जने गुणभावित्वात् तदुक्त प्रतिषेधात् स्यात् कारणात् केवलाशनम् ॥ (९-४-३६)*

२३. व्रत धर्माच्च लेपवत् ॥ (९-४-३७)
२४. ऋत्विग्दानं धर्म मात्रार्थं स्याद् ददाति सामर्थ्यात् । (१०-२-२२)
२५. परिक्रयार्थं वा कर्म संयोगाल्लोकवत् ॥ (१०-२-२३)
२६. वरणमृत्विजामानमनार्थ त्वात्सत्रे न स्यात् स्वकर्म त्वात् ॥ १०-२-३२)
२७. परिक्रयश्च तादर्थ्यात् ॥ (१०-२-३३)
२८. शब्दार्थश्चापि लोकवत् ॥ (१०-३-४४)
२९. भागित्वाद् वा गवां स्यात् ॥ (१०-३-४)
३०. भागित्वाद् वां गवां स्यात् ॥ (१०-३-४८)
३१. लिंगदर्शनाच्च ॥ (१०-४-४९)
३२. तत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक् त्वात् ॥ (१०-३-५०)
३३. विभागं च दर्शयति ॥ (१०-३-५२)
३४. अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमाख्या... तथाभ्युदये ॥ (१०-३-५५)
३५. विधि शब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात् तेन चोदना ॥ १०-४-२१)
३६. एवार्चं स्थानानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत् ॥ (१०-६-१)
३७. तृचे वा लिंग दर्शनात् ॥ (१०-६-२)
३८. मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात् ॥ (१०-६-३२)
३९. प्राश्येत वा यज्ञार्थत्वात् ॥ (१०-६-३३)
४०. परिक्रयाविभागाद् वा समस्तस्य विकारः स्यात् ॥ (१०-६-६७)
४१. कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात् कृषिवत् प्रत्यारम्भ फलानि स्युः ॥ (११-१-२०)
४२. अधिकारश्च सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेषः ॥ (११-१-२१)
४३. संक्रतुस्यात्कृतार्थत्वात् ॥ (११-१-२२)
४४. शब्दार्थश्च तथा लोके ॥ (११-१-२३)
४५. ऐक शब्द्यात्तथाङ्गेषु लोके कर्मार्थं लक्षणम् ॥ (११-३-२५,२६)
४६. लौकिकेषु यथाकामी संस्कारानर्थ लोपात् ॥ (११-३-३२)
४७. नोपदिष्टत्वात् । लाघवापत्तिश्च ॥ (११-४-५,६)
४८. विद्यां प्रतिविधानाद् वा सर्वकालं प्रयोगः
स्यात् कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य ॥ (१२-३-१९)
४९. मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन कर्मादि सन्निपातः
स्यात् सर्वस्य वचनार्थत्वात् ॥ (१२-३-२५)
५०. स्मृतेर्वास्याद् ब्राह्मणानाम् ॥ (१२-४-४३)
५१. प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने ॥
५२. अन्वाहार्ये च दर्शनात् ॥ (१२-४-४७)

"बन्धन और मोक्ष"

सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥

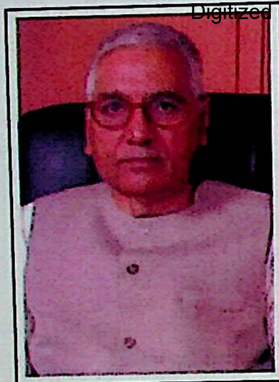
मनु. ६-७४

अर्थात् :-

यथार्थ (सम्यक्) दर्शन करनेवाला व्यक्ति कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता है। दर्शन से विहीन अर्थात् तत्वज्ञान से रहित व्यक्ति सांसारिक (जन्म और मृत्यु के) बन्धन में पड़ता रहता है।



श्रेष्ठ व्यक्तित्व



श्री दीनदयालजी गुप्त
प्रधान-आर्य समाज
बड़ा बाजार, कोलकाता

माननीय श्री दीनदयालजी गुप्त का जन्म ग्राम मानेहरु जिला-भिवानी (हरियाणा) में विक्रम संवत् १९९९ में हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गांव में हुई। आपने सन् १९६२ में कलकत्ता आकर व्यावहारिक कार्य प्रारम्भ किया। सन् १९६७ में आचार्य रमाकान्त जी शास्त्री के उपदेशों को सुनकर आप वैदिक धर्म के अनुयायी बन गये। आर्य समाज बड़ा बाजार के सदस्य - सभासद-कार्यकारिणी के सदस्य-मन्त्री-कोषाध्यक्ष के विविध पदों पर रहते हुए आपने आर्य समाज के कार्यों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस समय आप आर्य समाज बड़ा बाजार के प्रधान हैं तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिम बंगाल के मन्त्री हैं। आप पश्चिम बंगाल में आर्य समाज के प्रचार-प्रसार में सक्रिय हैं। आप सरल स्वभाव-स्पष्टवादी-विनम्र-स्वाध्यायशील-दानवीर तथा देव दयानन्द के दीवाने हैं। आर्य समाज कार्यों में सहयोग देने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। संस्कृत के प्रति आपकी बहुत रुचि है। आपने प्रौढ़ अवस्था में संस्कृत का अध्ययन किया। वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन के लिये आपने अथक प्रयास करके प. बंगाल में गुरुकुल कोलाघाट की स्थापना की। आर्य समाज की अनेक संस्थाओं को आप आर्थिक सहयोग करते रहते हैं। आप परोपकारिणी सभा अजमेर, सत्यार्थ प्रकाश न्यास उदयपुर तथा आर्य कन्या महाविद्यालय भिवानी के ट्रस्टी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बालकों के निर्माण के लिये शिविर लगाना, विद्यालय के भवन बनाना, गौशाला का निर्माण कर उन्हें सुचारु रूप से चलाना आदि सामाजिक सेवा के कार्य आप अहर्निश करते रहते हैं। धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं औद्योगिक क्षेत्र में भी (डालर बनियान के निर्माता के रूप में) आपका प्रतिष्ठित स्थान है। ''सादा जीवन उच्च विचार'' आपका आदर्श है।

वेदान्त और मीमांसा दर्शन में विद्यमान ज्ञान के भण्डार से अधिक जन लाभ उठावें इस दृष्टि से वेदान्त-मीमांसा-सन्देश पुस्तक का प्रकाशन आपने कराया है। एतदर्थ आपको हार्दिक धन्यवाद।

विनीत
सोमदेव शास्त्री
मुम्बई